द्रौपदी का चीरहरण और श्रीकृष्ण

महाभारत के कतिपय प्रसंगों पर विचार

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

महाभारत

अष्टाध्यायी (6/2/38) में व्यासमुनिप्रोक्त 'भारत' ग्रन्थ तथा वैशम्पायन एवं सूत उग्रश्रवा: प्रवर्धित 'महाभारत' ग्रन्थवाची 'महाभारत' शब्द के पूर्वपद प्रकृति स्वर का विधान पाणिनि ने किया है। महाभारत का सरल शब्दार्थ 'बड़ा भारत' होता है। छोटा-बड़ा सापेक्ष शब्द हैं। इससे स्पष्ट है कि 'महाभारत' से पहले कोई 'लघु भारत' भी रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि कौरव तथा पाण्डवों के बीच हुए युद्ध का वर्णन पहले 'जय' से किया गया था जिसके रचयिता श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यास थे। 'संजीवनी' के अनुसार उसमें लगभग दस हज़ार श्लोक थे। तदनन्तर वैशम्पायन ने लगभग चौबीस हज़ार श्लोकों का 'भारत' बनाया— 'चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारत संहिताम्' (आदि-1/102)। सौति ने उस ऐतिहासिक ग्रन्थ में अनेक आख्यानों को जोड़कर एक विशालकाय ग्रन्थ को महाभारत का नाम दिया। आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत दो भिन्न-भिन्न स्वतंत्र ग्रन्थों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। कालान्तर में छोटे भारत का बड़े महाभारत में समावेश हो जाने पर भारत नामक छोटा ग्रन्थ शेष नहीं रहा। और स्वभावत: लोगों में यह समझ हो गई कि वर्तमान से प्रचलित महाभारत ही एक भारत ग्रन्थ है।

वर्तमान महाभारत की पोथी में यह वर्णन मिलता है कि व्यास जी ने महाभारत सहित चारों वेदों को अपने पुत्र शुकदेव, वैशम्पायन, जैमिनि, पैल तथा सुमन्तु को पढ़ाया। फिर उन पाँचों ने पृथक्-पृथक् महाभारत संहिता की रचना की। इस प्रकार भिन्न-भिन्न पाँच व्यक्तियों द्वारा महाभारत के पृथक्-पृथक् संस्करण प्रकाशित हुए। एक ही विषय में लिखने पर भी पाँच विद्वानों के चिन्तन और अभिव्यक्ति में समानता नहीं हो सकती। इसलिए पाँचों संहिताओं में पर्याप्त अन्तर रहा होगा। वर्तमान में उपलब्ध महाभारत पाँचों में से किसकी रचना है, इसका पता कैसे चले? रामबहादुर चिन्तामणि वैद्य का कथन है कि ''यहाँ पर इतना कह देना यथेष्ट होगा कि वर्तमान में जो महाभारत उपलब्ध है, वह मूल में वैसा नहीं था। भारत या महाभारत के अनेक रूपान्तर हो गये हैं। और ग्रन्थ को जो अन्तिम स्वरूप प्राप्त हुआ, वही हमारा वर्तमान महाभारत है।'' किन्तु सत्यान्वेषी को इतने से सन्तोष नहीं हो सकता।

संस्कृत साहित्य के अप्रतिम अध्येता तथा प्रामाणिक विद्वान् चिन्तामणि विनायक वैद्य ने वर्तमान में प्रचलित महाभारत के तीन कर्त्ता माने हैं— व्यास, वैशम्पायन तथा सौति।

वैशम्पायन के भारत की श्लोक संख्या चौबीस हज़ार बताई गई है। सौति ने महाभारत की श्लोक संख्या एक लाख गिनी है। इसलिए उसी ने 76 हज़ार श्लोक मिलाकर उसे लक्षश्लोकी महाभारत के नाम से प्रतिष्ठित किया। महाभारत के सभी आख्यान उनके लिखे माने जाते हैं। सौति पुराणोत्तर काल के कथावाचक थे। पुराणों का काल महाभारत के बहुत बाद का है। अंग्रेजों के भारत में आने के बाद भी पुराणों की रचना होती रही, यह भविष्योत्तर पुराण के प्रतिसर्ग, खण्ड 1, अध्याय 1 के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्टत: सिद्ध है—

रविवारे च सण्डे च फाल्गुने चैव फ़र्वरी ।
षष्टिश्च सिक्सटी ज्ञेया तदुदाहरमीदृशम् ।।

इसलिए पुराणों के आधार पर सौति का काल निर्धारित नहीं किया जा सकता। ऐसा भी प्रतीत होता है कि जिस प्रकार साम्प्रदायिक लोग अनेक अनुकूल श्लोक डालते रहे हैं, वैसे ही प्रतिकूल विचारों को निकालते भी रहे हैं। सौति ने महाभारत की श्लोक संख्या एक लाख गिनी। परन्तु महाभारत में इस संख्या की अपेक्षा चार हज़ार से पन्द्रह हज़ार तक की संख्या कम है, क्योंकि कुम्भघोण संस्करण में लगभग 96,000 श्लोक हैं, जबकि कलिकाता संस्करण में 85,000। इससे स्पष्ट है कि महाभारत में से श्लोक निकाले भी जाते रहे हैं।

महाभारत को व्यास की रचना कहा जाता है। परन्तु वर्तमान महाभारत के रचयिता व्यास नहीं हैं। वस्तुत: व्यास ने तो वर्तमान में प्रचलित एक लाख श्लोकों के महाभारत का नाम तक नहीं सुना था। उन्होंने तो 8-10 हज़ार श्लोकों का 'जय' नामक ग्रन्थ बनाया था। कालान्तर में प्रक्षेप होते गये। कब, किसने, कितना और कहाँ प्रक्षेप किया, इसका निश्चय करने के लिए कोई आधार न होने के कारण विद्वान् इस विषय में एकमत नहीं हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि ये प्रक्षेप समय-समय पर अनेक विद्वानों के द्वारा हुए हैं।

भगवद्गीता— भगवद्गीता मूलत: महाभारत के अन्तर्गत भीष्मपर्व के 25वें से लेकर 42वे अध्याय तक के 18 अध्यायों का नाम है। महाभारत से पृथक् कर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में गीता को प्रस्तुत करने का श्रेय आदि शंकराचार्य को है। वही उसके सर्वप्रथम भाष्यकार हैं। इस विषय में लोकमान्य तिलक का कहना है— ''वर्तमान गीता को महाभारतकार ने पहले के ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा है। यह नयी रचना नहीं है। तथापि यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मूल गीता में महाभारतकार ने कोई हेर-फेर नहीं किया होगा।'' *—गीतारहस्य, पृष्ठ 525*

अपने गीताभाष्य के आरम्भ में शंकराचार्य जी ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि ''गीता में सात सौ श्लोक हैं। इन सात सौ श्लोकों में से 1 श्लोक धृतराष्ट्र का है, 40 संजय के, 84 अर्जुन के और 575 श्रीकृष्ण के हैं।''

तिलक के अनुसार ''बम्बई में गणपत कृष्णा जी के छापेखाने में मुद्रित महाभारत

की पोथी में साढ़े पाँच श्लोकों में गीता-माहात्म्य का वर्णन किया गया है और उसमें लिखा है कि गीता में केशव के 620, अर्जुन के सत्तावन, सञ्जय के 67 और धृतराष्ट्र का 1, इस प्रकार कुल मिलाकर 745 श्लोक हैं।''

मद्रास क्षेत्र में जो पाठ प्रचलित है, उसके अनुसार कृष्णाचार्य द्वारा प्रकाशित महाभारत की पोथी में ये श्लोक पाये जाते हैं। परन्तु कलकत्ता में मुद्रित पोथी में ये नहीं मिलते। और महाभारत के टीकाकार ने तो इनके विषय में यह लिखा है— 'गौडैः न पठयन्ते'। अतएव प्रतीत होता है कि ये प्रक्षिप्त हैं। परन्तु, यद्यपि इन्हें प्रक्षिप्त मान लें, तथापि यह नहीं बतलाया जा सकता कि गीता में 745 श्लोक (अर्थात् वर्तमान पोथियों में जो 700 श्लोक हैं, उनसे 45 श्लोक अधिक) कहाँ से, किसे और कब मिले। महाभारत बड़ा भारी ग्रन्थ है। इसलिए संभव है कि समय-समय पर कुछ श्लोक जोड़ दिये गये हों तथा कुछ निकाल डाले गये हों।

गीता का प्रतिपाद्य—गीता में जो कुछ कहा गया है, वह युद्धक्षेत्र में श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच हुए संवाद की, भीष्म की मत्यु के बाद युद्धक्षेत्र से लौटने पर, संजय द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट है। इस संवाद का प्रतिपाद्य क्या है? किसी भी ग्रन्थ अथवा लेख के तात्पर्य का निश्चय करने के लिए प्राचीन मीमांसकों का एक सर्वमान्य श्लोक है—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।।

इस प्रकार किसी ग्रन्थ के तात्पर्य का निश्चय करने के लिए उक्त श्लोक में कही गई सात बातें सहायक होती हैं—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति।

इनमें सबसे पहली बात 'उपक्रमोपसंहारौ' अर्थात् ग्रन्थ का आरम्भ और अन्त है। कोई भी मनुष्य किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए अथवा किसी हेतु विशेष से ग्रन्थ लिखना आरम्भ करता है और उस प्रयोजन की सिद्धि हो जाने पर ही उसे समाप्त करता है। अतः ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्धारण करने में सबसे पहले उसके उपक्रम (आरम्भ) तथा उपसंहार (अन्त) पर विचार करना चाहिए। आद्यन्त के आधार पर तात्पर्य का ज्ञान हो जाने पर यह देखना चाहिए कि उस ग्रन्थ में 'अभ्यास' अर्थात् बार-बार किस बात को कहा गया है। ग्रन्थकार अपने अभीष्ट के समर्थन में किंचिद् भिन्न शब्दों में अथवा तरह-तरह के तर्क व प्रमाण प्रस्तुत करके बार-बार अपने मन के भाव को व्यक्त करता है और हर बार कहता जाता है— 'इसलिए (तस्मात्) ऐसा होना या करना चाहिए'।

तात्पर्य का निश्चय करने में चौथा साधन है— 'अपूर्वता' अर्थात् प्रतिपाद्य विषय का वैशिष्ट्य अथवा उसका लीक से हटकर होना। जहाँ सामान्य लौकिक बुद्धि का प्रवेश न हो, शास्त्र प्रवृत्ति की सफलता ऐसे ही अर्थ में होती है। कोई भी श्रेष्ठ ग्रन्थकार जब ग्रन्थ

लिखने बैठता है तो वह चाहता है कि मैं लोगों को कोई ऐसी बात बतलाऊँ जो मुझसे पहले किसी ने न कही हो। मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ की महत्ता के प्रदर्शनार्थ किया गया उपयुक्त कथन 'अर्थवाद' कहाता है। यह निश्चय हो जाने पर भी कि हमें मुख्यत: किस बात को सिद्ध करना है, कभी-कभी ग्रन्थकार प्रसंगानुसार दूसरी अनेक बातों का भी वर्णन करता है, जैसे– प्रतिपादन के प्रवाह में दृष्टान्त देने, समानता व मतभेद दिखलाने, परमत के दोष दिखलाकर स्वमत को दृढ़ करने के लिए अलंकारादि से काम लेता है, विषयान्तर प्रतीत होने पर भी ऐसा अपने मत या सिद्धान्त की महत्ता दिखलाने या अपने कथन को और अधिक स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। यह सर्वथा सत्य नहीं होता। इस प्रकार का उल्लेख 'अर्थवाद' कहलाता है। स्तुति या प्रशंसा की इन अर्थवादात्मक बातों को छोड़कर ग्रन्थकार के वास्तविक तात्पर्य का निश्चय होता है। जिस विषय में प्रकरण का तात्पर्य है, उसका निश्चय हो जाने पर उसके अनुसार आचरण करने पर उससे होने वाली उपलब्धि को 'फल' कहते हैं। अमुक फल की प्राप्ति हो, इसी हेतु से ग्रन्थ लिखा जाता है। इसलिए यदि घटित परिणाम पर ध्यान दिया जाये तो उससे ग्रन्थकार का आशय या तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है।

किसी विशेष बात को सिद्ध करने में बाधक प्रमाणों का खण्डन करते हुए साधक प्रमाणों को युक्तिपूर्वक प्रस्तुत करना 'उपपत्ति' अथवा उपपादन कहलाता है। उपक्रम तथा उपसंहार रूप आद्यन्त के दो छोरों का निश्चय हो जाने पर बीच का मार्ग अर्थवाद और उपपत्ति की सहायता से निकल आता है। अर्थवाद से यह मालूम हो जाता है कि कौन-सी बात मुख्य है और कौन-सी आनुषंगिक। तब उपपत्ति की सहायता से आनुषंगिक की उपेक्षा करके लेखक मुख्य के उपपादन में प्रवृत्त होता है और पाठक उसके तात्पर्य को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

मीमांसकों द्वारा निर्धारित ये नियम सार्वभौम एवं सार्वकालिक होने से प्रत्यक्षत: अथवा परोक्षत: सर्वमान्य हैं। परन्तु जब एक बार किसी की दृष्टि साम्प्रदायिक या संकुचित हो जाती है तो वह किसी-न-किसी रीति से यही सिद्ध करने का प्रयास करता है कि प्रमाणभूत ग्रन्थों में उसी के साम्प्रदायिक मत का वर्णन तथा पोषण किया गया है। इस प्रकार जब वे पहले से निश्चय किये हुए अपने ही सम्प्रदाय के अर्थ को सत्य मानने लगते हैं और यह सिद्ध कर दिखाने का यत्न करने लगते हैं कि सब धार्मिक ग्रन्थों में वही अर्थ प्रतिपादित किया गया है, तब वे इस बात की परवाह नहीं करते कि हम मीमांसा शास्त्र के नियमों की अवहेलना कर रहे हैं।

महाभारत युद्ध के आरम्भ होने से पूर्व जब दोनों पक्षों की सेनायें यथास्थान खड़ी हो गईं तो भीष्म पितामह ने युद्ध शुरू करने के लिए शंख बजा दिया। सैनिक एक-दूसरे पर शस्त्र चलाने लगे। तब अर्जुन ने अपने सारथि श्रीकृष्ण से कहा कि मेरा रथ दोनों सेनाओं

के बीच ले जाकर खड़ा करो। मैं यह तो देखूँ कि यहाँ मुझे किनसे लड़ना होगा। श्रीकृष्ण ने आदेश का पालन किया और रथ को सेनाओं के बीच ले जाकर खड़ा कर दिया। तब उसने वहाँ वृद्ध भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य, गुरुपुत्र अश्वत्थामा आदि अपने ही बन्धु-बान्धवों तथा अनेक सम्बन्धियों तथा लाखों सैनिकों को देखा। यह सब देखकर अर्जुन को वैराग्य हो गया और वह ब्रह्मज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें बघारने लगा और विमनस्क हो संन्यास लेने को तैयार हो गया। वह मन में सोचने लगा– 'एक हस्तिनापुर के छोटे-से राज्य के लिए उसे इन सबको निर्दयतापूर्वक मारकर अपने ही कुल का नाश करना होगा!' ऐसे युद्ध की विभीषिका और उसके कारण होने वाले महत् पाप के भय से उसका मन विचलित हो गया। एक ओर उसे क्षात्रधर्म ललकारकर कह रहा था– युद्ध कर। दूसरी ओर से पितृभक्ति, गुरुभक्ति, बन्धुप्रेम, सुहत्प्रीति आदि अनेक धर्म उसे बलात् पीछे खींच रहे थे।

अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध कवि एलेग्ज़ेण्डर पोप ने एक स्थान पर लिखा है–

Two things in human nature reign,
Passion to urge and reason to restrain.

भावना मनुष्य को आगे की ओर धकेलती है और विवेक बुद्धि उसे नियन्त्रित करती है। अर्जुन के लिए यह एक बहुत बड़ा संकट था। यदि लड़ाई करे तो अपने ही गुरुजनों और बन्धु-बान्धवों की हत्या करके महापातक का भागी बने, और न लड़े तो क्षात्रधर्म से च्युत समझा जाय– इधर कुआँ, उधर खाई। यद्यपि अर्जुन कोई साधारण पुरुष नहीं था, तथापि धर्म के इस महान् संकट में पड़कर बेचारे का मुँह सूख गया, शरीर पर रोंगटे खड़े हो गये, धनुष हाथ से गिर गया, शरीर जलने लगा और वह खड़ा रहने में भी असमर्थ अनुभव करने लगा। तब वह मोहवश हो कहने लगा– "पूज्य गुरुजनों, भाई-बन्धुओं और मित्रों को मारकर और इस प्रकार कुल का सर्वनाश करके राज्य का एक टुकड़ा पाने से तो टुकड़े माँग-माँगकर जीना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। चाहे शत्रु मुझ निहत्थे की गर्दन उड़ा दें, परन्तु मैं अपने स्वजनों की हत्या करके उनके ख़ून से सने भोगैश्वर्य को भोगना नहीं चाहता। आग लगे ऐसे अनर्थकारी क्षात्रधर्म में।" इस प्रकार विचार करते-करते अर्जुन का मन डावाँडोल हो गया और वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो 'न योत्स्ये' (नहीं लड़ूँगा) कहकर चुपचाप बैठ गया।

कर्माकर्म संशय के ऐसे अनेक प्रसंग ढूँढ़कर अथवा कल्पित करके उन पर बड़े-बड़े कवियों ने अत्यन्त सरस काव्यों तथा नाटकों की रचना की है। उदाहरणार्थ– शेक्सपीयर का सर्वश्रेष्ठ नाटक हैमलेट **(Hamlet)** है। उसके नायक डेनमार्क के राजकुमार हैमलेट के चाचा ने राजकर्ता अपने भाई (हैमलेट के पिता) को मारकर उसकी पत्नी– हैमलेट की माता– को अपनी पत्नी बना लिया और राजगद्दी छीनकर राजा बन बैठा। तब राजकुमार हैमलेट के मन में द्वन्द्व मच गया कि ऐसे चाचा का वध करके पुत्रधर्म के अनुसार अपने

पितृऋण से मुक्त हो जाऊँ अथवा अपने चाचा– माता के पति और सिंहासनारूढ़ राजा पर दया करूँ? इस मोह में पड़ जाने के कारण कोमल अन्त:करण वाला हैमलेट पागल हो गया और अन्त में 'जिएँ या मरें'[1] इसकी चिन्ता करते-करते आत्महत्या करने पर विवश हो गया। काश! उस समय उसे कृष्ण के समान हितैषी कोई मार्गदर्शक मिल गया होता!

अर्जुन भाग्यशाली था कि उसे श्रीकृष्ण जैसा परम हितैषी और नीतिमान् उपदेशक मिल गया। किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन श्रीकृष्ण की शरण में चला गया– ''मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे मार्ग दिखाइये– शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'' तब उसे क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, उसी को भगवद्गीता के नाम से अभिहित कर महर्षि वेदव्यास ने अपने महाकाव्य 'महाभारत' में प्रस्तुत किया। इसका फल यह हुआ कि जो अर्जुन पहले भीष्म आदि गुरुजनों की हत्या के भय से युद्ध से पराङ्मुख हो गया था, वही अब अपना यथोचित कर्तव्य समझ गया और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से युद्ध में प्रवृत्त हो गया।

गीता के तात्पर्य को जानने के लिए उसके उपक्रम व उपसंहार को अवश्य ध्यान में रखना होगा। गीता के उपदेश का उपक्रम (आरम्भ) तब हुआ जब अर्जुन 'मैं नहीं लड़ूँगा' (न योत्स्ये) कहकर और धनुष-बाण फेंककर और, मारने की बजाय मरने के लिए तैयार होकर, रथ में पीछे की ओर जा बैठा। और इस उपदेश का अन्त (उपसंहार) तब हुआ जब अर्जुन श्रीकृष्ण के आदेशानुसार (करिष्ये वचनं तव) लड़ने के लिए तैयार हो गया। इस उपदेश के बीच-बीच में अनुमान-दर्शक महत्त्व के 'तस्मात्' (इसलिए) पद का प्रयोग करके कृष्ण अर्जुन को यही निश्चितार्थक कर्मविषयक उपदेश देते गये कि 'तस्माद्युध्यस्व भारत' (2/18)– इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध कर; 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय:' (2/37)– इसलिए अर्जुन! तू युद्ध का निश्चय करके उठ; 'तस्मादसक्त:

---

1. To be or not to be—that is the question;
   Whether tis nobler in the mind to suffer.
   The slings and arrows of outrageous fortune,
   Or to take arms against a sea of troubles,
   And by opposing end them? To die, to sleep—
   ···But that the dread of something after death—
   The undiscovered country, from whose bourne,
   No traveller returns, puzzles the will...
   Thus conscience does make
   Cowards of us all.

सततं कार्यं कर्म समाचर' (3/19)—इसलिए मोह छोड़कर तू अपना कर्तव्य कर्म कर; 'युध्यस्व विगतज्वर:' (3/30)—निश्चिन्त होकर युद्ध कर; 'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम् (4/15)—इसलिए तू कर्म कर; 'मामनुस्मर युध्य च'—इसलिए मेरा स्मरण कर और युद्ध कर; 'तस्मादुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्' (11/33)—इसलिए उठ और शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का उपभोग कर; 'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्' (11/34)—युद्ध कर, तू शत्रुओं को जीतेगा।

उपदेश की समाप्ति पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से पूछा—''तूने मेरी बातों को ध्यान से सुन लिया है न? और सुन लिया है तो बता कि अज्ञान से उत्पन्न तेरा मोह पूरी तरह नष्ट हो गया है या नहीं?'' अर्जुन ने उत्तर दिया कि ''हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे अपने कर्तव्य का बोध हो गया है। अब मैं जैसा आप कहेंगे, वैसा ही करूँगा।'' अब उसे कहने के लिए क्या रह गया था? श्रीकृष्ण ने बार-बार एक ही बात कही—लड़! लड़!! लड़!!! और अर्जुन लड़ने के लिए तैयार हो गया। फिर वह ऐसा लड़ा कि एक दिन आवेश में आकर बड़े भैया युधिष्ठिर तक को मारने के लिए तैयार हो गया था और यदि श्रीकृष्ण बीच में न पड़ते तो युधिष्ठिर की मृत्यु निश्चित थी। (वनपर्व) इतना ही नहीं, जिन भीष्म और द्रोण के सम्बन्ध में अर्जुन ने कभी यह कहा था कि ये दोनों तो पूजा के योग्य हैं, इन पर मैं बाण कैसे फेंक सकूँगा, उनको अपने ही हाथों मारने में अर्जुन ने संकोच नहीं किया।

इस प्रकार तात्पर्य निर्णय के लिए निर्धारित नियमों के अनुसार गीता का प्रतिपाद्य युद्ध से विरत अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं ठहरता।

श्रीकृष्ण को सारथि बना, धनुष-बाण ले, रथ पर सवार होकर अर्जुन रणक्षेत्र में किसलिए गया था? निश्चय ही युद्ध करने के लिए। उसे यह भी पहले से पता था कि उसके प्रतिद्वन्द्वी कौन हैं, प्रतिद्वन्द्वियों में प्रमुख कौन हैं और वे उसके क्या लगते हैं। उन सबको वह भली भाँति जानता था। तब दोनों सेनाओं के बीच खड़े होकर उन्हें जानने में क्या तुक थी? देखा ही था और अर्जुन के मन में कुछ शंकाएँ उठी थीं जो उसके युद्ध में प्रवृत्त होने में बाधक बन रही थीं, तो श्रीकृष्ण का उपदेश उन शंकाओं के समाधान तक सीमित रहना चाहिए था। अर्जुन ने उसके मन को उद्विग्न करने वाली शंकाओं तथा युद्ध के परिणामस्वरूप होने वाली हानियों को इस रूप में प्रस्तुत किया था—

1. पूज्य गुरुजनों और बन्धु-बान्धवों की हत्या कल्याणकारिणी नहीं होगी।

2. जिनके लिए राज्यभोग और सुखैश्वर्य चाहिए वे सब तो यहाँ मरने के लिए खड़े हैं।

3. जिन्हें मारकर मैं त्रिलोकी का राज्य भी नहीं चाहता, क्या एक पृथिवी के राज्य के लिए उनका हनन करना उचित होगा?

4. माना कि ये सब आततायी हैं तो भी क्या स्वजनों को मारकर हम सुखी रह सकेंगे?

5. यद्यपि धृतराष्ट्र के पुत्र लोभ के वशीभूत हो बुद्धि खो बैठने से कुल के क्षय और मित्रद्रोह के पाप को नहीं देख पा रहे हैं—तो क्या हमें भी इस पाप से बचने के विषय में विचार नहीं करना चाहिए?

6. कुल का नाश हो जाने पर कुलधर्म का नाश हो जायेगा।

7. कुलधर्म के नष्ट हो जाने पर अधर्म के राज्य का विस्तार हो जायेगा।

8. अधर्म के फैल जाने पर स्त्रियों का आचरण दूषित हो जायेगा।

9. स्त्रियों के दूषित हो जाने पर उनसे वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है।

10. वर्णसंकर, कुल नष्ट करने वालों और कुल दोनों को नरक में ले जाते हैं। ऐसे कुलों के पितर अन्न-जल के अभाव में दु:ख पाते हैं।

11. इन दोषों के कारण समस्त जातिधर्म और परम्परागत कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं।

12. जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं वे सदा के लिए दु:खरूप नरक में पड़े रहते हैं।

13. तब क्या यह चिन्ता और दु:ख की बात नहीं है कि हम राज्य पाने के लोभ में स्वजनों की हत्या के पाप में प्रवृत्त हो रहे हैं?

14. क्या मेरे लिए यह अच्छा नहीं होगा कि धृतराष्ट्र के पुत्र हाथ में शस्त्र लेकर मुझ निहत्थे को मार डालें?

15. पूजा के योग्य भीष्म पितामह और आचार्य द्रोण की ओर मैं बाण कैसे फेंक सकूँगा?

16. क्या ऐसे पूज्य महानुभावों को मारकर जीने की अपेक्षा भीख माँगकर पेट भर लेना ठीक नहीं होगा?

17. क्या यह उचित होगा कि मैं गुरुजनों के खून से सने भोगों को भोगूँ?

18. क्या हम जानते हैं कि हम दोनों—कौरवों और पाण्डवों में से कौन जीतेगा?

19. क्या पृथिवी के निष्कंटक समृद्ध राज्य पर मेरा आधिपत्य इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे शोक को दूर कर देगा?

20. अज्ञान के कारण मैं दीनता के भाव से ग्रस्त हो गया हूँ। इसलिए जो मेरे लिए निश्चित रूप से हितकर हो, वह मुझे बताइए।

क्या श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश में अर्जुन के इन प्रश्नों का उत्तर दिया? हमारे विचार में 18वें प्रश्न को छोड़कर शेष प्रश्नों को तो उन्होंने छुआ तक नहीं। परन्तु यह कैसे हो सकता है कि श्रीकृष्ण जैसे प्रौढ़ विद्वान् और कुशल वक्ता (वदतां श्रेष्ठतम:— व्यास) ने उत्तर न दिया हो। और फिर, अर्जुन भी उत्तर पाये बिना कहाँ छोड़ने वाला था? परन्तु महाभारत में जहाँ समय-समय पर श्लोक डाले गये हैं, वहाँ निकाले भी गये हैं। गीता मूलत: महाभारत का ही अंग है। हो सकता है कि महाभारत के घटने-बढ़ने में ही किसी समय वे श्लोक

निकल गये हों।

महाभारत में प्रक्षेप से तो इनकार नहीं किया जा सकता। यह भी निश्चित है कि प्रक्षेप किसी पर्व अथवा अध्याय विशेष में सीमित नहीं रहा होगा, वह समूचे महाभारत में यत्र-तत्र-सर्वत्र हुआ होगा। तब, यदि वर्तमान में प्रचलित लक्षश्लोकी महाभारत मूलत: 'चतुर्विंशतिसाहस्री' अथवा 8-10 हज़ार श्लोकों का था तो एक लाख श्लोकों के महाभारत में समाविष्ट वर्तमान सात सौ श्लोकों की गीता का मूलत: 60-70 श्लोकों में ही होना क्या युक्तियुक्त नहीं है? इण्डोनेशिया के अन्तर्गत बाली द्वीप में आज भी 70 श्लोकी गीता का प्रचलन है। यह भी हो सकता है कि महाभारत के पूर्वनिर्दिष्ट पाँच संस्करणों में से विलुप्त संस्करणों में कैसा ही संस्करण (दस हज़ार श्लोकी) रहा हो और उसमें इधर-उधर की अवान्तर बातें न करके श्रीकृष्ण ने युद्ध से विरत अर्जुन के प्रश्नों का तर्कसंगत, बोधगम्य तथा सूत्रात्मक अर्थात् नपा-तुला संक्षिप्त उत्तर दिया हो।

प्रक्षेपों के कारण अनेक की रचना होने से गीता में परस्पर विरुद्ध, पुनरुक्त तथा अप्रासंगिक कथन आदि अनेक दोष आ गये हैं। उदाहरणार्थ—

द्वितीय अध्याय के 23वें श्लोक में 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक:' कहने के बाद अगले ही श्लोक में 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्' कहने की क्या आवश्यकता थी? विशेषत: लाखों सैनिकों के बीच चल रही भयंकर मार-काट की स्थिति में? जिसे शस्त्र नहीं काट सकते उसका 'अच्छेद्य' होना और जिसे अग्नि जला नहीं सकती उसका 'अदाहन' होना तो स्वत: सिद्ध है।

इसी श्लोक में आए 'सर्वगत:' शब्द से भी इसका प्रक्षिप्त होना सिद्ध है। यह जीवात्मा का प्रकरण है। जीवात्मा के 'एकदेशी' होने से उसे 'सर्वगत' (सर्वव्यापक) नहीं कहा जा सकता। 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिण:' कहने के पश्चात् 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' कहना अनावश्यक है। 'अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराण:' के साथ 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' कहने में क्या तुक थी? ' जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इस सिद्धान्त का निरूपण करने के साथ 'न जायते म्रियते वा कदाचित्'··· 'अथ चैनं मन्यते मृतम्'···'देही नित्यमवध्योऽयम्'···'न त्वेवाहं जातु नासम्' इत्यादि कथन क्या व्यर्थ समय नष्ट करना नहीं था? द्वितीय अध्याय में इन्द्रियनिग्रह की बात बलपूर्वक 58, 60 तथा 61वें श्लोकों में कह दी गई। फिर, किंचिद् भिन्न शब्दों में ही इसे 61-68वें श्लोकों में कहने की क्या आवश्यकता थी? व्याख्यानों तथा प्रवचनों में बल देने अथवा विशदीकरण करने के लिए एक ही बात को बार-बार कहा जा सकता है। परन्तु जिस स्थिति में गीता का उपदेश देना पड़ा, उसमें आवश्यकता से अधिक एक भी शब्द बोलने का अवसर या औचित्य नहीं बनता।

इसी अध्याय में 45वाँ (त्रैगुण्यविषया वेदा:···) और 46वाँ (यावानर्थ उदपाने···)

श्लोक अस्थान में होने से प्रक्षिप्त हैं। यह प्रकरण निष्काम कर्म का है। इन दो श्लोकों से पूर्व के 43-44वें तथा तत्पश्चात् 47-48वें श्लोकों में भी निष्काम कर्म के विषय में ही कुछ कहना चाहिए था। परन्तु इनमें स्पष्ट ही वेदों की निन्दा की गई है जिसका यहाँ कोई प्रसंग नहीं था।

इस प्रकार गीता में पुनरुक्त, परस्पर विरुद्ध तथा प्रसंग विरुद्ध वचनों की भरमार है। वेदों के प्रगल्भ विद्वान् महर्षि वेदव्यास द्वारा सम्पादित योगिराज श्रीकृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में इस प्रकार के दोष ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलने चाहिए। फिर भी वर्तमान में प्रचलित वे दोष यत्र-तत्र-सर्वत्र (अनेकत्र) दृष्टिगोचर होते हैं। इनके लिए न श्रीकृष्ण दोषी हैं और न वेदव्यास। इनके लिए दोषी हैं—अज्ञात कुलशील वे विद्वान् जो अपने साम्प्रदायिक मन्तव्यों की पुष्टि के लिए समय-समय पर मनमाने प्रक्षेप करके गीता और महाभारत के कलेवरों को घटाते-बढ़ाते रहे।

युद्धक्षेत्र में जिस स्थिति में, अर्थात् युद्ध में प्रवृत्त दो सेनाओं के बीच में खड़े होकर यह संवाद हुआ था उसमें विषयान्तर और अनावश्यक विस्तार के लिए कोई अवकाश, अवसर या औचित्य नहीं था। वहाँ तो सारी बात कुछेक क्षणों में समाप्त हो जानी चाहिए थी। और ऐसा ही हुआ भी होगा। अर्जुन ने लड़ने से इनकार करते हुए जो बातें कही थीं, केवल उनका उत्तर या समाधान अपेक्षित था। युद्धक्षेत्र में जिस उपदेश की कोई आवश्यकता या सार्थकता नहीं थी और अर्जुन ने जिसके विषय में कोई जिज्ञासा भी नहीं की थी उनका विवेचन वहाँ नहीं किया जाना चाहिए था। वस्तुत: वहाँ न तो ब्रह्मविद्या, अध्यात्म चर्चा, योगसमाधि आदि का विवेचन करने का अवसर था, न खान-पान, दान-पुण्य के सात्त्विक, राजस व तामस भेदों की व्याख्या करने और न सांख्य-योग आदि के विश्लेषण-विवेचन आदि का मंच था। इस प्रकार के प्रश्न यदि अर्जुन उठाता भी तो श्रीकृष्ण को स्पष्ट कह देना चाहिए था कि देश-काल और परिस्थिति को देखते हुए इस समय केवल युद्ध सम्बन्धी बातें कर, शेष बातें युद्ध की समाप्ति पर घर में बैठकर करेंगे।

दुर्जनतोषन्याय से यह मान भी लें कि गीता में उपलब्ध उपदेश यथातथ दिया गया था तो उसका लाभ क्या हुआ? महाभारतकार के अनुसार वह सब अर्जुन तो भूल ही गया, स्वयं श्रीकृष्ण को भी बिलकुल याद नहीं रहा। गीता में अश्वमेधादिक पर्व में अनुगीता के अन्तर्गत लिखा है—

एक दिन अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि ''जब संग्राम का समय उपस्थित था तब आपने सौहार्दवश जो ज्ञान का उपदेश मुझे दिया था, वह सारा ज्ञान इस समय विचलित चित्त हो जाने के कारण नष्ट हो गया (भूल गया) है। हे माधव! उन बातों को सुनने के लिए मेरे मन में बड़ी उत्कण्ठा होती है। इधर आप जल्दी ही द्वारका जाने वाले हैं, अत: वे सब विषय मुझे दुबारा सुना दीजिये।''

इस पर श्रीकृष्ण बोले– ''अर्जुन! अपनी नासमझी के कारण तुमने जो उस उपदेश को भुला दिया, यह मुझे बहुत बुरा लगा है। अब उन बातों का पूरा-पूरा स्मरण होना संभव नहीं जान पड़ता। पाण्डुनन्दन! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो। तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द जान पड़ती है। अब मैं उस उपदेश को ज्यों-का-त्यों नहीं कह सकता। ब्रह्मपद की प्राप्ति के लिए वह धर्म पर्याप्त था। अब यह सारा का सारा दुहराना मेरे वश की भी बात नहीं है।''

इससे तो स्पष्टत: प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के अनुसार सेनाओं के बीच खड़े होकर गीता के नाम से प्रसिद्ध उपदेश अर्जुन को ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए दिया गया था, न कि युद्ध से विरत अर्जुन की शंकाओं का समाधान करके उसे युद्ध में प्रवृत्त कराने के लिए।

और यदि श्रीकृष्ण अर्जुन को ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए यह उपदेश दे रहे थे तो बीच-बीच में बार-बार लड़ने के लिए खड़ा होने (तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय:) के लिए प्रेरित एवं उत्साहित क्यों कर रहे थे? उन्होंने एक बार भी 'ब्रह्मपदप्राप्त्यर्थमुत्तिष्ठ' नहीं कहा। और अर्जुन भी उपदेश सुनने के बाद समाधिस्थ होने के लिए किसी आश्रम में न जाकर युद्ध में प्रवृत्त हो गया। इस प्रसंग से गीता और महाभारत दोनों की प्रामाणिकता पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न लग जाता है।

फिर, यह तो होता है कि विद्यार्थी कभी-कभी अध्यापक द्वारा पढ़ाये गये पाठ को भूल जाता है। पर यह कभी नहीं होता कि विद्यार्थी द्वारा दुबारा पाठ पूछे जाने पर अध्यापक यह कह दे कि अब तो मैं भी भूल गया। निश्चय ही विद्यार्थी से अध्यापक का और शिष्य से गुरु का ज्ञान कहीं अधिक होता है। और श्रीकृष्ण ने तो गीता में एक स्थान पर (गीता 4/5) अपने लिए यह कहा है कि ''हे अर्जुन! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। मैं उन सब जन्मों की बातें जानता हूँ, तू नहीं जानता।''

अर्जुन सामान्य पुरुष था, उसका भूल जाना कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु जन्म-जन्मान्तर की बातों को अपने योगबल से जानने वाले श्रीकृष्ण इसी जन्म की एक महीने पहले की बातों को कैसे भूल गये?

इस उपदेश को इस समय दुहराने में अपनी असमर्थता का कारण बतलाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं– ''उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्व का वर्णन किया था।''

अर्जुन ने कुछ शंकाएँ प्रस्तुत की थीं और श्रीकृष्ण ने तत्काल उत्तर देना आरम्भ कर दिया था। युद्धक्षेत्र के अशान्त वातावरण में श्रीकृष्ण को योगयुक्त होने में देर न लगी। तब पाण्डवों के महलों में एकान्त और शान्त वातावरण में योगयुक्त होने में क्या बाधा थी?

अर्जुन के पाठ भूल जाने पर कृष्ण ने उसे कितनी डाँट-फटकार डाली और खरी-खोटी सुनाई और उसे 'श्रद्धाहीन', 'मन्दबुद्धि' जैसी उपाधियाँ दे डालीं। और जो अध्यापक विद्यार्थी को पाठ पढ़ाने के बाद उसे स्वयं भूल जाये, उसे क्या कहेंगे? पर, 'समरथ को

नहीं दोष गुसाईं।'

हम यह नहीं कहते कि गीता का अधिकांश अनुपयोगी, अशुद्ध अथवा व्यर्थ है। हमारा आग्रह ती इस बात पर है कि वह (उन थोड़े-से श्लोकों को छोड़कर, जिनका सीधा सम्बन्ध अर्जुन द्वारा युद्ध के आरम्भ में प्रस्तुत शंकाओं और उनके समाधान से है) युद्धक्षेत्र में श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच हुआ संवाद न होकर कालान्तर में अनेक विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त है।

महाभारत का कलेवर

प्रचलित महाभारत में स्वर्गारोहण पर्व के पाँचवें अध्याय में सौति के प्रमाण से लिखा है कि श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने 'जय' नामक महाभारत को पहले साठ लाख श्लोकों का बनाया था। उसका दूसरा संस्करण तीस लाख श्लोकों का था। तीसरा संस्करण चौदह लाख श्लोकों का और चौथा संस्करण एक लाख श्लोकों का था। इसे (मूल को) पूर्ण करने में तीन वर्ष का समय लगा था। वहाँ महाभारत को 'इतिहास' नाम से अभिहित किया गया है— 'जयो नामेतिहासोऽयम्'। इतिहास इतिवृत्तात्मक होता है। वह 'इति-ह-आस'— निश्चय ही 'ऐसा हुआ था' कहता चलता है। उसमें 'ऐसा सुना जाता है या कहा जाता है' जैसे प्रयोग नहीं होते। सौति पुराणोत्तर काल के कथावाचक थे। कथावाचक को अपने श्रोताओं के मनोरंजन के लिए आख्यान गढ़ने पड़ते हैं। धीरे-धीरे वे चुपके से लोकविश्रुत ग्रन्थों में प्रवेश पा जाते हैं। कालान्तर में इतिहास तथा आख्यानों में भेद करना कठिन हो जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक नाटक भी इसी वर्ग में आते हैं। वर्तमान में प्रचलित धर्मग्रन्थों के रूप में प्रतिष्ठित रामायण, महाभारत, पुराण, जातक, त्रिपिटक आदि ऐसे ही धर्मग्रन्थ हैं। 'जय' नाम से प्रतिष्ठित ग्रन्थ कभी इतिहास रहा होगा, किन्तु वर्तमान महाभारत अब इतिहास न रहकर महाकाव्य बन चुका है जिसका अधिकांश कल्पना-प्रधान है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वरचित सत्यार्थप्रकाश में महाभारत का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

''राजा भोज ने 'संजीवनी' नामक इतिहास लिखा था जो ग्वालियर राज्य के भिंड नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है और जिसे लखुना के रावसाहब और उनके गुमाश्ते रामदयाल चौबे ने अपनी आँख से देखा है। उसके अनुसार वेदव्यास जी ने चार सहस्र चार सौ और उनके शिष्यों ने पाँच सहस्र छह सौ श्लोकयुक्त भारत बनाया था। वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र का था। महाराजा भोज कहते हैं कि मेरे पिता जी के समय में पंचीस और मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोकयुक्त 'महाभारत' का पुस्तक मिलता है। जो ऐसा ही बढ़ता चला तो महाभारत का पुस्तक एक ऊँट का बोझा हो जायेगा।''

— समुल्लास 11

महाभारत युद्ध का समय

भागवत पुराण, स्कन्ध 12, अध्याय 2, श्लोक 29 में श्रीकृष्ण के स्वर्गारोहण पर कलियुग प्रवेश माना है। यही समय भारत युद्ध तथा युधिष्ठिर के राज्य शासन का है। अकबर के समय में भी युधिष्ठिर का यही समय निश्चित हुआ था, जैसा कि 'आईने अकबरी' (प्रकाशित कलकत्ता सन् 1867 ईसवी) में लिखा है।

भारतीय परम्परा के अनुसार युधिष्ठिर संवत् कलि संवत् से 38 वर्ष पूर्व आरम्भ होता है। इसका आरम्भ युधिष्ठिर का राज्यारोहण काल है। 36 वर्ष युधिष्ठिर ने राज्य किया। उसके दो वर्ष अनन्तर कलि का आरम्भ होता है। कलि संवत् का आरम्भ ईसवी संवत् के आरम्भ से 3102 वर्ष पूर्व 18 फरवरी को होता है। इस प्रकार 3102 में 38 जोड़ने पर ईसवी संवत् से पूर्व युधिष्ठिर संवत् का आरम्भ काल 3140 वर्ष होगा। एतद्नुसार महाभारत का काल 3140 में 1995 जोड़ने पर आज (25 दिसम्बर 1995) से 5135 वर्ष पूर्व ठहरता है।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे

कुरुक्षेत्र— कुछ समय पूर्व तक 'बम्बई' शब्द से वर्तमान में इस नाम के प्रसिद्ध नगर के अतिरिक्त उस समूचे क्षेत्र का ग्रहण होता था जिसे पहले **'Bombay Presidency'** और अब मुम्बई कहते हैं। और 'मद्रास' शब्द से इस नाम से प्रसिद्ध मद्रास नगर के अतिरिक्त उस समूचे क्षेत्र का ग्रहण होता था जिसे पहले **'Madras Presidency'** और अब चेन्नई कहते हैं। इसी प्रकार महाभारत काल में 'कुरुक्षेत्र' शब्द से उस समूचे क्षेत्र को समझना चाहिए जो सरस्वती से दक्षिण और दृषद्वती से उत्तर की ओर हो। महाभारत के वनपर्व में लिखा है—

दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते ते वसन्ति त्रिविष्टपे।। *वनपर्व 81/4,204*

लगभग ऐसा ही पाठ पद्मपुराण में भी मिलता है। वहाँ आदि खण्ड 28/89 में लिखा है—

दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण सरस्वतीम्।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टये।।

महाभारत से इसका विरोध नहीं है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि सरस्वती के दोनों तटों का प्रदेश (कुरुक्षेत्र) स्वर्ग के समान है।

आजकल की प्रसिद्ध नदियों में दृषद्वती नाम किसी का नहीं पाया जाता। हो सकता है कि या तो सरस्वती की भाँति उस नदी का लोप हो गया हो या उसका नाम बदल गया हो। प्राचीन काल की 'आर्जिकीया' और 'विपाट्' दोनों नाम वर्तमान व्यास नदी के माने

जाते हैं। इनमें से आर्जिकीया नाम जाता रहा और विपाट् (विपाश) का विकृत नाम 'व्यास' आज भी चल रहा है। दृषद्वती गंगा का ही अमर नाम है। महाभारत में इसका संकेत इस प्रकार मिलता है—

युद्ध की समाप्ति पर पाण्डवों ने हस्तिनापुर जाकर अपना राज्य सँभाल लिया। कुछ ही दूर अर्जुन के बाणों से घायल भीष्म शरशय्या पर लेटे हुए थे जहाँ उनकी चिकित्सा हो रही थी। महाभारत में शान्तिपर्व के अनुसार श्रीकृष्ण और अपने भाइयों के साथ युधिष्ठिर शरशायी भीष्म के पास राजनीति का उपदेश लेने के लिए जाया करते थे। वे सब प्रात:काल वहाँ जाते और उसी दिन सायं हस्तिनापुर लौट आते थे। वापसी पर वे दृषद्वती में स्नान कर विधिवत् सन्ध्योपासना से निवृत्त होकर हस्तिनापुर में प्रवेश करते थे।

—महा० शान्ति० 58/28-30

महाभारत काल में कुरुक्षेत्र आजकल इस नाम से अभिहित उपनगर और आसपास तक के क्षेत्र तक सीमित न रहकर एक पर्याप्त विस्तृत प्रान्त था। इसकी सीमाएँ अनुमानत: पश्चिम में सतलुज और पूर्व में गंगा तक फैली हुई थीं। महाभारत का युद्ध ठीक किस भूमि पर और कितनी भूमि पर लड़ा गया था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर भी महाभारत में उपलब्ध कतिपय संकेतों से उसका अनुमान लगाया जा सकता है।

भीष्मपर्व के आरम्भ (अध्याय 1, श्लोक 9) में इस विषय में लिखा है—युद्धभूमि का घेरा कई योजन लम्बा था। उन सब लोगों ने वहाँ के अनेक प्रदेशों, नदियों, पर्वतों और वनों को सब ओर से घेर रक्खा था।

उद्योगपर्व में अम्बा के साथ परशुराम जी के 'कुरुक्षेत्र पहुँचने पर वहाँ सरस्वती नदी के तट पर स्थित आश्रम में रात्रि को निवास करने और तीसरे दिन राज्य की सीमा पर ठहर कर भीष्म को अपने आने की सूचना भेजने' का उल्लेख हुआ है। युधिष्ठिर आदि का प्रतिदिन भीष्म के पास जाना और शाम को हस्तिनापुर लौट जाना इस बात को प्रकट करता है कि भीष्म को शरविद्ध होने पर कहीं हस्तिनापुर के समीप, अथवा बीस-पचीस मील के अन्तर पर गंगा-तट के आसपास रक्खा गया होगा। यह स्थान कुरुक्षेत्र की भौगोलिक या राजनीतिक सीमा के अन्तर्गत रहा होगा। वर्तमान में कुरुक्षेत्र नाम से अभिहित उपनगर और हस्तिनापुर के बीच लगभग एक सौ बीस मील का अन्तर है। निश्चित रथमार्गों से आने-जाने पर और भी अधिक पड़ेगा। घोड़ों के रथों से प्रतिदिन आने-जाने के लिए यह दूरी अधिक है। फिर उपदेश के लिए भी पर्याप्त समय चाहिए।

अनुशासन पर्व अध्याय 167 के अनुसार भीष्म की चिता चिकित्सालय के पास ही बनाए जाने का महाभारत में उल्लेख है। अन्त्येष्टि के अनन्तर समीप ही गंगा में स्नानादि करने का भी उल्लेख है। इससे भी ज्ञात होता है कि जहाँ भीष्म शरशय्या पर लेटे थे, वह स्थान गंगा के अति निकट था। यह स्थान हस्तिनापुर से उत्तर की ओर वर्तमान शुकताल

के आसपास रहा होगा। उस काल में वहाँ कोई बड़ा नर्सिंग होम रहा होगा जहाँ भीष्म को उपयुक्त चिकित्सा व सेवा-शुश्रूषा के लिए रक्खा गया होगा। शरशय्या से शरीर में बिंधे हुए बाणों की शय्या की कल्पना करना मूर्खता है।

धर्मक्षेत्र– इस पर लोकमान्य तिलक ने अपनी टिप्पणी में इस प्रकार लिखा है–

"कौरव-पाण्डव का पूर्वज कुरु नाम का राजा था जो इस मैदान को बड़े कष्ट से जोतता था। अतएव इसे कुरु का क्षेत्र (खेत) कहते हैं। इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया कि इस क्षेत्र में जो मनुष्य या पशु-पक्षी निराहार रहकर मरेंगे या युद्ध में मारे जायेंगे, उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी, कुरुक्षेत्र की वायु द्वारा उड़ाई गई धूलि जिस पर पड़ जायेगी वे पापी भी परम पद (मोक्ष) प्राप्त करेंगे। तब से उसने इस क्षेत्र में हल चलाना छोड़ दिया। (महा० शल्य पर्व 53) इन्द्र के इस वरदान के कारण ही यह क्षेत्र पुण्यक्षेत्र या धर्मक्षेत्र कहाने लगा। इस मैदान के विषय में यह भी कथा प्रचलित है कि परशुराम ने इक्कीस बार पृथिवी को क्षत्रियविहीन करके यहाँ पितृ-तर्पण किया था और अर्वाचीन काल में भी इस क्षेत्र में बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुई हैं।"

–तिलक– गीता रहस्य, पृष्ठ 608

तिलक द्वारा महाभारत से उद्धृत यह प्रमाण किसी बुद्धिजीवी के गले नहीं उतर सकता, क्योंकि स्वयं महाभारत और उसके अन्तर्गत गीता में तथा गीता रहस्य के नाम से तिलक द्वारा लिखे गये गीता भाष्य और उसकी भूमिका में तथा अन्यान्य वैदिक शास्त्रों में अनेकत्र इसका प्रत्याख्यान करते हुए स्वकृत पुण्य कर्मों के फलस्वरूप ही स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति का विधान किया गया है। गीता में श्रीकृष्ण की कितनी सुविचारित घोषणा है–

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।। 6/45

यत्नपूर्वक उद्योग करता हुआ योगी, जिसके पाप शोधे जा चुके हों, अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त करता हुआ परम पद मोक्ष को प्राप्त करता है। तब, मात्र कुरुक्षेत्र की धूलि ऊपर गिर जाने अथवा निराहार रहकर मर जाने से पशु-पक्षियों तक को मोक्ष मिल जाने वाली बात पर कौन विश्वास कर सकता है? फिर, परशुराम द्वारा पृथिवी को इक्कीस बार क्षत्रियविहीन कर देना कौन-सा पुण्य कर्म था।

महाभारत युद्ध में 18 अक्षौहिणी सेना (50 लाख मनुष्य) में से केवल 10 व्यक्तियों को छोड़कर शेष सभी काल-कवलित हो गये थे। ऐसी भूमि को पुण्यभूमि या धर्मक्षेत्र कैसे कहा जा सकता है। इतिहासज्ञ एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि इस युद्ध के कारण भारत का इतना पतन हुआ कि जो देश कभी विद्या, चरित्र, विज्ञान और कला की दृष्टि से सब देशों का शिरोमणि और समृद्धि की दृष्टि से पारसमणि समझा जाता था, वह पतन के गर्त में ऐसा गिरा कि आज तक भी उससे पूरी तरह नहीं उभर पाया है। न ऐसे विनाशकारी युद्ध को धर्मयुद्ध कहा जा सकता है और न ऐसे युद्धक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा जा सकता है।

मूल महाभारत का कलेवर वर्तमान में उपलब्ध महाभारत का दशांश रहा होगा। उसके पश्चात् जो मौखिक प्रक्षेप होता रहा है और अब भी होता रहता है, उसका अन्त नहीं है। ऐसे ही कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर इस छोटी-सी पुस्तक में विचार किया गया है। उन्हें अन्तिमेत्थम् के रूप में स्वीकार किये जाने का लेखक का आग्रह नहीं है। सुधीजनों के विचारार्थ प्रस्तुत है।

–विद्यानन्द सरस्वती

डी 14/16 माडल टाउन
दिल्ली-110007

क्रम

द्रौपदी का चीरहरण और श्रीकृष्ण

द्रौपदी का स्वयंवर

यह सर्वविदित है कि पाण्डवों को भस्म करने के लिए दुर्योधन ने वारणावत में एक लाख का भवन बनवाया था और पाँचों पुत्रों के साथ कुन्ती को उसमें रहने के लिए भेज दिया था। परन्तु इसका आभास हो जाने से इस दुष्कर्म के लिए दुर्योधन द्वारा भेजे गये पुरोचन से पहले भीमसेन ने ही आग लगा दी थी और इस कारण माता कुन्ती के साथ पाँचों पाण्डव सुरंग के मार्ग से बचकर बाहर निकल आये थे। उस अवस्था में वे यत्र-तत्र विचरण करते हुए भिक्षा माँगकर अपना पेट भरते थे। इस प्रकार चलते-फिरते वे पाञ्चाल देश में जा पहुँचे और विराट नगर में एक कुम्हार के घर में अपने रहने की व्यवस्था कर ली। वह घर आजकल के कुम्हार के घर जैसा न होकर मध्यम श्रेणी के परिवार के रहने योग्य रहा होगा जिसमें कुन्ती अपने पाँच पुत्रों के साथ रहती थी। वे उसमें पवित्र मधुरभाषी ब्राह्मण परिवार के रूप में रहते थे।

पाण्डुपुत्रों की खोज की दृष्टि से पाञ्चाल नरेश ने एक ऐसा धनुष बनवाया था जिस पर असाधारण वीर ही प्रत्यंचा चढ़ा सकता था। राजकुमारी द्रौपदी के स्वयंवर में भाग लेने वाले राजकुमार आये हुए थे। समाचार पाकर पाँचों पाण्डुकुमार भी वहाँ जा पहुँचे। वे वहाँ ब्राह्मण युवकों के वेश में पहुँचे।

पांचाल नरेश ने आकाश में घूमने वाला एक ऐसा यन्त्र बनवाया था जो बड़े वेग के साथ आकाश में घूमता था। उस यन्त्र में छेद के ऊपर उन्होंने एक लक्ष्य बनवाकर रख दिया और सर्वत्र घोषणा कर दी कि जो वीर इस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर वहाँ रक्खे बाणों द्वारा छेद के भीतर से लक्ष्यबेध करेगा उसी के साथ मेरी पुत्री का विवाह होगा। भरी सभा में लक्ष्यबेध करके अर्जुन ने द्रौपदी को जीत लिया। पर अज्ञात कुलशील किसी व्यक्ति के हाथों में अपनी पुत्री को सौंप देना पांचाल नरेश को अच्छा नहीं लग रहा था। अत: उनका विवरण जानने का दायित्व उन्होंने अपने पुरोहित धौम्य तथा पुत्र राजकुमार धृष्टद्युम्न को सौंप दिया।

इधर नकुल और सहदेव के साथ युधिष्ठिर अपने घर लौटे। इन तीनों को घर आते देखकर चिन्ता के स्वर में कुन्ती ने पूछा होगा कि तुम तो आ गये, पर अर्जुन और भीम कहाँ रह गए? इतने में द्रौपदी के साथ अर्जुन और भीम भी पहुँच गये और उन्होंने कहा– ''माताजी! आज हम बहुत अच्छी भिक्षा लाए हैं'' जिस पर, कहा जाता है कि

कुन्ती ने यह कह दिया कि तुम सब (समेत्य) एक साथ मिलकर भोगो। और इस प्रकार द्रौपदी पाँचों भाइयों की पत्नी हो गई।

प्रथम तो यह कैसे हो सकता है कि इतनी महत्त्वपूर्ण घटना— स्वयंवर में जीत-- हो जाने पर उल्लसित नकुल और सहदेव 'भैया जीत गए, भैया जीत गए' चिल्लाते हुए घर में नहीं घुसे होंगे? और क्या भीम और अर्जुन के साथ द्रौपदी के आने से पहले ही नकुल और सहदेव ने स्वयंवर में सफलता की बात माता को नहीं बता दी होगी? द्रौपदी के साथ भीम और अर्जुन ब्राह्मणों की मण्डली के साथ आये थे। इतनी भीड़ के साथ आते हुए अर्जुन को भिक्षा माँगकर लाया समझना भी समझ में नहीं आता। फिर, जब पाँचों भाई भिक्षा में खाद्य पदार्थ ही लाते थे और मिलकर ही खाते थे, उस दिन 'सब मिलकर भोगो' का अर्थ प्रतिदिन की भाँति 'खाद्य पदार्थ मिलकर खाओ' न करके 'एक स्त्री एक साथ मिलकर भोगो' कैसे किया जा सकता था? 'समवेत' का अर्थ तो यही है कि 'सब भाई मिलकर एक साथ उपयोग करो।' यह सर्वथा असंभव है। क्या विधिवत् विवाह के बिना एक जुलूस के साथ द्रौपदी को ससुराल भेजा जा सकता था, जैसे आजकल चुनाव में विजेता घोषित होते ही उसे जुलूस के साथ नगर में घुमाया जाता है? श्री रामचन्द्र जी ने महाराजा जनक के यहाँ धनुष को तोड़कर जनक की शर्त को पूरा कर दिया था। तब क्या महाराज जनक ने सीता को राम के साथ विश्वामित्र के आश्रम में भेज दिया था? विवाह की शर्त पूरी करने का अर्थ विवाह के योग्य घोषित होना होता है, न कि विवाहित होना। द्रौपदी का विवाह तो राजभवन में राजोचित शोभा के साथ धूमधाम से होना था।

प्रचलित कथा के अनुसार जिस समय पाण्डव द्रौपदी के साथ पाण्डवों के आवास पर पहुँचे होंगे (साधारणतया बरात बहू के साथ अचानक नहीं आती) उस समय कुन्ती घर के भीतर होगी, उस समय उसने अपने पुत्रों को देखे बिना ही कह दिया होगा— (भिक्षा लाए हो तो) सब भाई मिलकर एक साथ बैठकर खा लो। तत्पश्चात् उनके साथ आती द्रौपदी को देखकर चिन्तित कुन्ती ने कहा— 'हाय! यह मेरे मुँह से क्या निकल गया! अरे, यह तो महाराजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी है। तुम्हारे छोटे भाई भीम और अर्जुन ने इसे रोज़ की तरह 'भिक्षा' कहकर मुझे समर्पित कर दिया। और मैंने भी (इसे देखे बिना ही) भूल से भिक्षा समझकर कह दिया कि 'तुम सब मिलकर खा लो!' तत्पश्चात् द्रौपदी को देखते ही चिन्तित हो कहा— 'हाय! यह मेरे मुँह से क्या निकल गया'। इससे स्पष्ट है कि कुन्ती ने यह अनुभव किया कि मेरे मुँह से बड़ी ही अनुचित बात निकल गई। अनुभव ही नहीं किया, कुन्ती स्वयं युधिष्ठिर के पास गई और अपनी भूल स्वीकार करते हुए उससे इसके निराकरण का उपाय पूछा। कुन्ती के स्पष्टीकरण के बाद उसके पूर्वोक्त कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाय कि कुन्ती ने सचमुच वैसा आदेश दिया था तब भी वह माननीय नहीं था, क्योंकि शास्त्रीय विधान (यान्यनवद्यानि

कर्माणि तानि त्वया सेवितव्यानि नो इतराणि) के अनुसार माता-पिता आदि गुरुजनों का धर्मानुसार विचार ही माननीय होता है, धर्मविरुद्ध नहीं।

किंकर्तव्यविमूढ़ युधिष्ठिर ने इस विषय में गुरुजनों तथा आप्त पुरुषों की सम्मति लेना आवश्यक समझकर सबसे पहले कन्या के पिता द्रुपद से पूछा। द्रुपद ने कहा– ''हे राजन्! एक राजा की कई रानियाँ या एक पुरुष की कई पत्नियाँ होती हैं, पर एक स्त्री के एक से अधिक पति हों, ऐसा तो कभी नहीं सुना गया है। यह लोकविरुद्ध है, वेदविरुद्ध है। ऐसा कार्य आपको नहीं करना चाहिए। आप तो शुद्ध, पवित्र और धर्म को जानने वाले हैं, आपकी ऐसी बुद्धि कैसे हो गई है?''

युधिष्ठिर ने उत्तर में कहा– ''धर्म का स्वरूप बहुत ही सूक्ष्म है। हम उसे पूरी तरह नहीं जानते। इसलिए पूर्वकाल में हमारे पूर्वज जिस मार्ग पर चले थे, हम भी उसी का अनुसरण करेंगे। मेरी वाणी कभी झूठ नहीं बोलती और बुद्धि भी कभी अधर्म में प्रवृत्त नहीं होती। यह अटल नियम है। आप इसमें तनिक संकोच न करें। (इसलिए आप ठीक-ठीक अपनी राय बता दें।) हमारी माता ने भी हमें वेदों के विरुद्ध नहीं, बल्कि वेदों के अनुकूल ही चलने की शिक्षा दी है।''

ऐसी बातें हो ही रही थीं कि अकस्मात् वहाँ महर्षि वेद व्यास आ पहुँचे। राजा द्रुपद ने व्यास जी से पूछा– ''हे भगवन्! एक स्त्री बहुतों की पत्नी कैसे हो सकती है? यह आप ठीक-ठीक बताएँ।'' व्यास जी ने कहा– ''इस लोक में और वेद के विरुद्ध धर्म के सम्बन्ध में जिसका जो मत हो, बताएँ। उसको मैं सुनना चाहता हूँ।'' इस पर राजा द्रुपद ने अपना मत बताया– ''मेरी सम्मति में तो यह लोक और वेद दोनों के विरुद्ध है तथा अधर्म है। एक स्त्री बहुतों की पत्नी हो, यह नियम कहीं भी नहीं है। पहले महात्मा पुरुषों ने, ऐसे महात्मा पुरुषों ने कभी ऐसा आचरण नहीं किया। और विद्वान् पुरुषों को अधर्म का आचरण कभी नहीं करना चाहिए।''

तब द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने कहा– ''बड़ा भाई जो सदाचारी है, वह छोटे भाई की पत्नी से समागम कैसे कर सकता है? मैं ऐसी सम्मति नहीं दे सकता कि द्रौपदी पाँच भाइयों की पत्नी बने।''

बहुपतित्व के विरुद्ध इतने पुष्ट प्रमाण तथा साक्ष्य के होते यह कैसे माना जा सकता है कि द्रौपदी के पाँच पति थे?

द्रौपदी का विवाह

जब खोज के परिणामस्वरूप पांचाल नरेश महाराजा द्रुपद को यह विश्वास हो गया कि ब्राह्मण के वेश में विचरण करने वाले पाँचों वीर क्षत्रिय हैं और महात्मा पाण्डु की सन्तान हैं तथा लक्ष्यवेध करने वाला अर्जुन भी उन्हीं में से है तो उन्होंने प्रसन्न होकर विवाह की तैयारी शुरू कर दी। परन्तु विवाह अर्जुन के साथ न होकर युधिष्ठिर के साथ हुआ। यह कैसे हुआ?

युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—तुमने द्रौपदी को जीता है, इसलिए विधिपूर्वक इसके साथ पाणिग्रहण करो। उत्तर में अर्जुन ने कहा—मुझे आप अधर्म का भागी न बनाइए। बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे भाई का विवाह होना नियमविरुद्ध होने से अनुचित होगा। इसमें धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) प्रमाण है—

परिवित्तिः परीवेत्ता यया च परिविद्यते।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृ याजक पंचमः।। *मनु० 3/172*

बड़े भाई के अविवाहित रहते उससे पहले छोटे भाई का विवाह हो जाय तो परिवेत्ता, परिवित्ति कन्या, कन्यादान करने वाला तथा आचार्य—ये सब नरक में जाते हैं। तदनुसार बड़े भाई युधिष्ठिर के अविवाहित रहते छोटे भाई अर्जुन का विवाह शास्त्रविरुद्ध होने से अर्जुन ने विवाह करने से इनकार कर दिया।

राज्य मिलने पर सबसे बड़ा भाई होने से महाराजा युधिष्ठिर होंगे और महारानी द्रौपदी। इसलिए अर्जुन के स्थान पर द्रौपदी का विवाह युधिष्ठिर से होने में द्रुपद को क्या आपत्ति हो सकती थी? उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया और व्यास जी के सान्निध्य में वेदों के पारंगत विद्वान् धौम्य ने अग्नि प्रज्वलित करके युधिष्ठिर तथा द्रौपदी का विधिवत् गठबन्धन कर दिया।

पाण्डवों के अज्ञातवास की एक वर्ष की अवधि में द्रौपदी छद्मवेश में सैरन्ध्री नाम से विराटनगर के राजा के यहाँ राजकुमारी उत्तरा की सेवा में रही थी। राजा का साला कीचक द्रौपदी पर कुदृष्टि रखता था। जब द्रौपदी ने उस बात की भीमसेन से शिकायत की तो भीमसेन ने कीचक को मार डाला। वहाँ भीम ने द्रौपदी को अपनी या सबकी भार्या न कहकर भ्रातुर्भार्या बताया था। 'भ्रातुः' पद 'भ्रात्' का षष्ठी का एक वचन है। सबकी पत्नी होती तो 'भ्रातृणां भार्या' कहा गया होता। इससे द्रौपदी का केवल बड़े भाई युधिष्ठिर की पत्नी

होना सिद्ध होता है। सब जानते हैं कि दुर्योधन के साथ जुआ खेलने में युधिष्ठिर को अपनी पत्नी को दाँव पर लगाने को विवश किया गया था। तब उसने द्रौपदी को ही दाँव पर लगाया था। पत्नी को दाँव पर लगाना बहुत बड़ी बात थी। किसी दूसरे की वस्तु को न कोई दाँव पर लगा सकता है और न लगवाने वाला मान सकता है। यदि द्रौपदी अर्जुन की पत्नी होती तो उससे और यदि पाँचों की पत्नी होती तो पाँचों से अनुमति लिए बिना युधिष्ठिर ऐसा नहीं कर सकता था। जुए के समय सब भाइयों की पत्नियाँ वहाँ उपस्थित थीं। तब युधिष्ठिर ने द्रौपदी को ही दाँव पर क्यों लगाया? दुर्योधन का झगड़ा भी अकेले युधिष्ठिर से न होकर पाँचों पाण्डवों से था। किन्तु खेलने वाला तो अपनी ही पत्नी को दाँव पर लगा सकता था।

जिस प्रकार युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी के विवाह का स्पष्ट उल्लेख और पाणिग्रहण संस्कार का वर्णन मिलता है, उस प्रकार अर्जुन के साथ उसके विवाह का वर्णन कहीं नहीं मिलता। श्रीराम ने धनुष तोड़ने की शर्त पूरी कर दी थी, तो क्या इतने से सीता उनकी पत्नी बन गई थीं? सप्तपदी होने पर ही वधू पत्नीत्व को प्राप्त होती है। आचार्य धौम्य द्वारा विवाह की विधि पूरी होने पर ही युधिष्ठिर पति और द्रौपदी पत्नी बनी थी। अर्जुन और द्रौपदी का इस प्रकार का परस्पर सम्बन्ध कभी स्थापित नहीं हुआ था।

द्रौपदी का चीरहरण और श्रीकृष्ण

वनवास के दिनों में श्रीकृष्ण से भेंट होने पर द्रौपदी बोली– '' कृष्ण! मेरी जैसी स्त्री जो कुन्तीपुत्र की पत्नी, आपकी सखी और धृष्टद्युम्न जैसे वीर की बहन हो, क्या किसी तरह केशों से पकड़कर घसीटते हुए सभा में लाई जा सकती है? मैं रजस्वला थी, मेरे वस्त्रों पर रक्त के छींटे लगे थे, शरीर पर एक ही वस्त्र था और लज्जा तथा भय से मैं थरथर काँप रही थी। उस दशा में मुझ दु:खिनी अबला को कौरवों की सभा में घसीटकर लाया गया था। भरी सभा में राजाओं की मण्डली के बीच अत्यन्त रज:स्राव के कारण मैं रक्त से भीगी जा रही थी। उस अवस्था में मुझे देखकर धृतराष्ट्र के पापात्मा पुत्रों ने जोर-जोर से मेरा उपहास किया। पाण्डवों, पांचालों और वृष्णिवंश के वीरों के जीते जी धृतराष्ट्र के पुत्रों ने दासी भाव से मेरा उपभोग करने की इच्छा प्रकट की। श्रीकृष्ण! मैं धर्मत: भीष्म और धृतराष्ट्र दोनों की पुत्रवधू हूँ। तो भी उनके सामने ही बलपूर्वक दासी बनायी गई। मैं तो महाबली पाण्डवों की ही निन्दा करती हूँ, जो अपनी यशस्विनी धर्मपत्नी को शत्रुओं द्वारा घसीटी जाती हुई देख रहे थे।

'' जनार्दन! भीमसेन के बल को धिक्कार है, अर्जुन के गाण्डीव को धिक्कार है जो उन नराधमों द्वारा मुझे अपमानित होता देखकर भी सहन करते रहे। सत्पुरुषों द्वारा आचरण में लाया गया यह सनातन धर्म है कि निर्बल पति भी अपनी पत्नी की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं। पत्नी की रक्षा करने से अपनी सन्तान सुरक्षित रहती है और सन्तान की रक्षा करने से अपनी आत्मा की रक्षा होती है। मेरे पाँच पुत्र हैं। आपका पुत्र प्रद्युम्न जैसा शूरवीर है, वैसे ही महारथी वे मेरे पुत्र भी हैं। वे धनुर्विद्या में निपुण और शत्रुओं से अजेय हैं। फिर भी दुर्बल धृतराष्ट्र पुत्रों का अत्याचार कैसे सहन करते हैं।

'' अधर्म से सारा राज्य हरण कर लिया गया। सब पाण्डव दास बना दिये गये और मैं एक वस्त्रधारिणी होने पर भी सभा में घसीटकर लायी गयी। अर्जुन के पास जो गाण्डीव धनुष है उस पर अर्जुन, भीम और आपके सिवा दूसरा कोई प्रत्यंचा भी नहीं चढ़ा सकता। तो भी ये मेरी रक्षा न कर सके। कृष्ण! भीम के बल को धिक्कार है जिसके होते हुए दुर्योधन इतना बड़ा अत्याचार करके भी दो घड़ी भी जीवित रह रहा है। '' इस प्रकार भीम तथा अन्य पाण्डवों की वीरता का अनेकविध बखान करके कुपित हुई द्रौपदी बार-बार सिसकती और आँसू पोंछती हुई आँसुओं से रुँधे कण्ठ से बोली– ''मेरे लिए न पति है, न पुत्र हैं,

न बान्धव हैं, न पिता है और न आप ही हैं। क्योंकि आप सब लोग नीच लोगों की तरह मेरी उपेक्षा कर रहे हैं। श्रीकृष्ण! आपको तो तीन कारणों से सदा मेरी रक्षा करनी चाहिए– एक तो आप मेरे सम्बन्धी हैं, दूसरे, मैं आपकी सच्ची सखी हूँ और तीसरे, आप मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं।''

इस पर श्रीकृष्ण बोले– ''यदि मैं जुआ खेलने के समय द्वारका में या उसके आसपास होता तो आप पर यह संकट आता ही नहीं। मैं किसी के बुलाए बिना भी वहाँ उस द्यूत सभा में पहुँच जाता। पहले तो मैं जुए के अनेक दोष दिखाकर उसे रोकने की चेष्टा करता। और यदि वे मेरे मधुर और हितकर कथन को न मानते तो मैं उन्हें बलपूर्वक रोक देता। और यदि वहाँ उपस्थित सुहृद् नामधारी शत्रु अन्याय का आश्रय लेकर धृतराष्ट्र का साथ देते तो मैं उन सभासद जुआरियों को मार डालता। जब मैं द्वारका लौटा तब सात्यकि से मुझे यह दु:खद समाचार मिला। यह सुनते ही मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और मैं तुरन्त ही आपसे मिलने को यहाँ चला आया।''

तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से पूछा कि जब यहाँ द्यूत का आयोजन हो रहा था तो तुम उस समय कहाँ थे और क्या कर रहे थे? श्रीकृष्ण ने बताया कि उन दिनों मैं शाल्व के सौभ नामक नगराकार विमान को नष्ट करने गया हुआ था। उसका कारण यह था कि आपके राजसूय यज्ञ में अग्रपूजा के प्रश्न को लेकर जो विवाद हुआ था उस समय मैंने राजा शिशुपाल को मार डाला था। उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर शाल्व प्रचण्ड रोष से भर गया और द्वारकापुरी जा पहुँचा। वहाँ उसने वृष्णिवंशियों के बहुत-से बालकों का वध करके वहाँ के सब बाग-बगीचों को उजाड़ डाला। द्वारका पहुँचने पर जब मुझे इन सब बातों का पता चला तो मेरा मन रोष से व्याकुल हो गया और मैंने शाल्व के वध का निश्चय कर लिया। मैंने सब ओर उसकी खोज की तो मुझे वह समुद्र के एक द्वीप में दिखाई दिया। तब मैंने अपना पांचजन्य शंख बजाकर उसे समरभूमि में ललकारा। वहाँ दो घड़ी तक मेरा उससे युद्ध हुआ और मैंने सबको मार गिराया। यह कारण था जिससे मैं द्यूत के समय यहाँ उपस्थित नहीं हो सका। लौटने पर ज्योंही सुना कि हस्तिनापुर में दुर्योधन की उद्दण्डता के कारण जुआ खेला गया और पाण्डव उसमें सब कुछ हारकर वन को चले गये, त्योंही मैं आप लोगों को देखने यहाँ चला आया।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि जुआ खेले जाने, उसमें पाण्डवों के हारने तथा दुर्योधन व दु:शासन के द्रौपदी के प्रति किए गये अभद्र व्यवहार की घटना का श्रीकृष्ण जी को पता ही नहीं चला, क्योंकि घटना के समय वे दूर देश में शाल्व के साथ युद्ध में व्यस्त थे। उन्हें इसका पता द्वारका लौटने पर चला और सुनते ही वे तुरन्त उन लोगों से मिलने वन में चले आए। इस प्रकार किंवदन्ती के अनुसार श्रीकृष्ण के अदृश्य रूप में द्रौपदी की साड़ी बढ़ाते रहकर और इस प्रकार उसे नंगी न होने देकर उसकी रक्षा करने की बात नितान्त

मिथ्या है। ऐसा हुआ होता तो द्रौपदी को श्रीकृष्ण से शिकायत करने का अवसर ही न मिलता।

यह हो सकता है कि द्रौपदी की असहायावस्था को देखकर चारों ओर से शिष्ट जनों के धिक्कारने से दु:शासन बैठ गया हो। यह भी हो सकता है कि कुछ लोगों ने अपने उत्तरीय उतारकर द्रौपदी पर डाल दिये हों और वह जैसे-तैसे अपने शरीर पर लपेट सुकड़कर बैठ गई हो।

भीष्म द्वारा काशिराज की कन्याओं का अपहरण

उद्योग पर्व के अन्तर्गत अम्बिकोपाख्यान में काशिराज की कन्याओं के अपहरण का विवरण स्वयं भीष्म ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

जब मेरे पिता लोकविश्रुत महाराज शान्तनु का निधन हो गया तो मैंने अपने भाई चित्रांगद को इस महान् राज्य पर अभिषिक्त कर दिया। तदनन्तर जब चित्रांगद की भी मृत्यु हो गई तो मैंने माता सत्यवती की अनुमति से विधिपूर्वक विचित्रवीर्य का राजा के पद पर अभिषेक कर दिया। छोटा होने पर भी मेरे द्वारा अभिषिक्त होकर विचित्रवीर्य धर्मत: मेरी ही ओर देखा करते थे, अर्थात् मेरी ही सम्मति से सारा राजकार्य देखते थे। तब मैंने अपने योग्य कुल से कन्या लाकर उसका विवाह करने का निश्चय किया।

उन्हीं दिनों मैंने सुना कि काशिराज की तीन कन्याएँ हैं जो सभी अप्रतिम सौन्दर्य से सुशोभित हैं और वे स्वयंवर सभा में स्वयं ही पतियों का चुनाव करने वाली हैं। उनके नाम हैं– अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका। उन तीनों के स्वयंवर के लिए भूमण्डल के समस्त नरेश आमन्त्रित किये गये थे। उनमें अम्बा सबसे बड़ी थी, अम्बिका मँझली और अम्बालिका छोटी। स्वयंवर का समाचार पाकर मैं एक ही रथ के द्वारा काशिराज के नगर में गया। वहाँ पहुँचकर मैंने वस्त्राभूषणों से अलंकृत तीनों कन्याओं को देखा और आमन्त्रित होकर आए सम्पूर्ण राजाओं पर दृष्टि डाली। तदनन्तर मैंने उन समस्त राजाओं को ललकारकर तीनों कन्याओं को अपने रथ पर बैठा लिया। रथ पर बैठा लेने के पश्चात् समस्त राजाओं से कहा– ''शान्तनु-पुत्र भीष्म इन राजकुमारियों को अपहरण करके ले जा रहा है। छुड़ा सकते हो तो सब मिलकर छुड़ा लो।''

तब वे महीपाल कुपित हो, हाथ में हथियार लिए सब ओर से मेरी ओर दौड़े। मैंने भी बाणों की वर्षा करके उनकी प्रगति रोक दी और सब नरेशों को जीत लिया। तीनों कन्याओं को रथ में बिठाकर हस्तिनापुर ले आया और भाई से ब्याहने के लिए माता सत्यवती को सौंप दिया। यह देखकर माता सत्यवती की आँखों में हर्ष के आँसू झलक आए। जब विवाह का कार्य उपस्थित हुआ तो सबसे बड़ी अम्बा ने कुछ लजाते हुए कहा– ''मैंने मन से शाल्वराज को अपना पति चुन लिया है और उन्होंने भी एकान्त में मेरा वरण कर लिया हुआ है।'' माता सत्यवती की आज्ञा से मैंने उसे अपने घर जाने की अनुमति दे दी।

जब अम्बा शाल्वराज के पास पहुँची तो शाल्वराज ने उसे अपनाने से इनकार कर

दिया। शाल्वराज बोले— ''भीष्म ने तुम्हें बलपूर्वक जीता है। इसलिए तुम उसकी हो चुकी हो। जो पहले और की हो चुकी हो, ऐसी स्त्री को मैं अपनी पत्नी नहीं बना सकता। जहाँ तुम्हारी इच्छा हो चली जाओ। व्यर्थ यहाँ समय मत गँवाओ।''

अम्बा ने अनुनय की— ''राजन्! मैं भीष्म के साथ प्रसन्नतापूर्वक नहीं गई थी। मेरा अपहरण किया गया था और मैं रोती हुई भीष्म के साथ गई थी और अब मैं उन्हीं की आज्ञा से यहाँ आपके पास आई हूँ। भीष्म भी मुझे नहीं चाहते। आपके सिवा मैं किसी का चिन्तन नहीं करती हूँ। स्वयं ही अपनी सेवा में उपस्थित हुई मुझ कुमारी कन्या को अपनी धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार कीजिए।''

परन्तु शाल्वराज नहीं पसीजे, और अम्बा कुररी की भाँति रुदन करती हुई नगर से निकल गई। कहीं ठिकाना न पाकर उसने निश्चय किया कि अब मैं तपस्या अथवा युद्ध के द्वारा भीष्म से बदला लूँगी, क्योंकि वे ही मेरे दु:ख का मुख्य कारण हैं।

पौराणिक कल्पना के अनुसार अम्बा का अगला जन्म द्रुपद के यहाँ कन्या के रूप में हुआ। राजा और रानी ने उसे पुत्र-रूप में प्रसिद्ध करके उसका नाम शिखण्डी रक्खा। इसी शिखण्डी की सहायता से अर्जुन ने भीष्म का वध किया। किन्तु यह कल्पना बुद्धिगम्य नहीं है।

अर्जुन के साथ शिखण्डी को देखकर भीष्म ने कहा— ''मैं तेरे साथ किसी तरह युद्ध नहीं करूँगा। विधाता ने जिस (स्त्री) रूप में तुझे उत्पन्न किया था, तू वही शिखण्डिनी है।'' इस पर शिखण्डी ने कहा— ''भीष्म! आप मुझ पर इच्छानुसार प्रहार कीजिए या न कीजिए, परन्तु आप मेरे हाथ से जीवित न छूट सकेंगे। अब इस संसार को अच्छी तरह देख लीजिए।''

शिखण्डी द्रुपद का पुत्र और धृष्टद्युम्न तथा द्रौपदी का भाई था। शिखण्डी की गिनती अपने समय के श्रेष्ठ महारथियों में की जाती थी। गीता के प्रथम अध्याय के 17वें श्लोक में पाण्डवों की सेना के प्रमुख सेनापतियों में उसका उल्लेख हुआ है। वह अश्वत्थामा तथा दुर्योधन जैसे योद्धाओं की कोटि का महारथी था। भीष्मपर्व 119/61-65 के अनुसार भीष्म को स्त्री होने से शिखण्डी ने नहीं, किन्तु अर्जुन ने अपने बाणों से गिराया था। भीष्म ने बार-बार कहा— 'नेमे बाणा: शिखण्डिन:' अर्थात् ये शिखण्डी के बाण नहीं हैं। कैसे थे वे बाण? वहाँ बताया है— स्वयं भीष्म के शब्दों में (1) मम प्राणानारुजन्ति; (2) नाशयन्तीव मे प्राणान् यमदूता इवाहिता:; (3) कृतन्ति मम गात्राणि माधमां सेगवाइव; (4) मुसला इव मे घ्नन्ति, वज्रदण्डसमस्पर्शा: वज्रवेगदुरासदा:; (5) भुजगा इव संक्रुद्धा लेलिहाना विषोल्वणा:।

ऐसे बाण क्या एक हिजड़े के हो सकते थे?

भीष्मपर्व 120/2 में धृतराष्ट्र ने शिखण्डी का परिचय 'द्रुपदात्मजम्' द्रुपद के

'आत्मज' (पुत्र) के रूप में दिया है, 'आत्मजा' (पुत्री) के रूप में नहीं। इतना ही नहीं, द्रोणपर्व अध्याय 23 श्लोक 6 में शिखण्डी के पुत्र क्षत्रदेव का उल्लेख हुआ है। क्या इतना सब होते हुए भी शिखण्डी हिजड़ा या नपुंसक कहलायेगा? फिर, इस सारे प्रसंग में इस बात का कोई संकेत नहीं है कि पूर्व जन्म की अम्बा ही इस जन्म में शिखण्डी के रूप में पैदा हुई थी। शिखण्डी को भी इस बात का कोई स्मरण नहीं था कि मैंने पूर्व जन्म में अपने साथ हुए अन्याय का बदला भीष्म से लेना है। स्मरण नहीं है तो बदले से होने वाली सन्तुष्टि का संकेत तो होना ही चाहिए था। सारांश यह कि अम्बा के इस जन्म में स्त्री के रूप में जन्म लेकर पुरुष बनने का कोई प्रमाण नहीं है।

जहाँ तक भीष्म के स्त्री के साथ युद्ध न करने के औचित्यानौचित्य का प्रश्न है, श्रीराम तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे—आदर्श पुरुष थे। उन्होंने ताड़का का वध करके उसके औचित्य पर पहले ही मुहर लगा दी हुई थी। लंका में हनुमान ने भी लंकेश्वरी से युद्ध करके सिद्ध कर दिया था कि युद्धार्थ उद्यत स्त्री से युद्धनिन्दित नहीं। स्वयं श्रीकृष्ण ने भी पूतना का वध किया था। वर्तमान भारत में भी झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और दुर्गावती आदि ने युद्ध किये और पुरुषों के दाँत खट्टे किये।

महाभारत युद्ध में विदेशी हाथ

राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर के ऐश्वर्य को समग्रता में देखकर दुर्योधन चकित व लज्जित हो ईर्ष्याग्नि में जलने-भुनने लगा। उसकी इस अवस्था को देखकर शकुनि बोला— ''दुर्योधन! यह सारी सम्पत्ति मैं तेरे वश में कर दूँगा।'' दुर्योधन ने पूछा— ''कैसे? अब पाण्डवों को कौन जीत सकता है?'' शकुनि ने बताया— ''मैं जुआ खेलने में निष्णात हूँ। युधिष्ठिर सरल स्वभाव है, उसे बहकाना कौन-सी बड़ी बात है।'' शकुनि से प्रेरित दुर्योधन पिता व राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा प्राप्त करने गया। राजा ने कहा— ''मैं अपने मंत्री महात्मा विदुर से पूछकर बताऊँगा। वे बृहस्पति के समान नीति के पण्डित हैं।'' दुर्योधन जानता था कि धृतराष्ट्र आज्ञा नहीं देंगे। इसलिए उसने पुत्रमोह में ग्रस्त धृतराष्ट्र से खीजते हुए कहा— ''विदुर तो इसकी आज्ञा देंगे नहीं और मेरा इसके बिना जीना कठिन है। अत: मेरे मरने पर आप विदुर जी से राज्य करवाना।'' धृतराष्ट्र ने स्वयं द्यूत को वेदविरुद्ध जानते और मानते हुए भी सम्मति लेने के लिए महात्मा विदुर को बुला भेजा। विदुर ने इसका घोर विरोध करते हुए कहा— ''राजन्! यह द्यूत भाई-भाई में विरोध डाल देगा। श्रुति-स्मृति आदि में सर्वत्र इसकी निन्दा है। हँसी के रूप में भी इसका खेलना निषिद्ध है। राजाओं के लिए तो यह विनाशकारी व्यसन है।'' धृतराष्ट्र ने विदुर जी से सहमत होते हुए भी दैवहत पुरुष की नाईं कह दिया— ''दुर्योधन का हठ निभाने के लिए थोड़ा-सा होने दो। बीच में हम— भीष्म, द्रोण आदि भी तो होंगे। सबके बैठे अनर्थ कैसे होगा?'' ऐसा सुनकर भी विदुर जी ने कहा— ''जैसी आपकी आज्ञा। पर द्यूत शास्त्रविरुद्ध, कलहकारी, भेद डालने वाला निन्दनीय कर्म— पाप है।''

सभा में पहुँचकर द्यूत का नाम सुनते ही युधिष्ठिर बोले— ''महात्मन्! द्यूत में सदा क्लेश होता है। कोई भी समझदार व्यक्ति इसे पसन्द नहीं करता। आप ही कहें, क्या यह अच्छा काम है? हम सब आपकी आज्ञा में हैं।'' उत्तर में विदुर जी ने इतना ही कहा— ''धर्मराज! मुझे बलात् भेजा गया है। उनका सन्देश मैंने सुना दिया है। आप शास्त्रवित् हैं, जो उचित समझें, करें।''

शकुनि से सामना होने पर युधिष्ठिर बोले— ''राजन्! किसी को ठगना व जुआ खेलना पाप है। इसमें कोई क्षत्रियोचित बल का परीक्षण तो होता नहीं। यह कोई धर्मनीति नहीं है, आप इसे क्यों पसन्द करते हैं?'' शकुनि बोला— ''धर्मराज! इसमें ठगी और पाप क्या

है? जैसे द्वन्द्व में शरीर-बल का परीक्षण होता है और शस्त्रास्त्र संग्राम में धनुर्वेद का परीक्षण होता है, ऐसे ही जुए में बुद्धि का परीक्षण होता है।''

युधिष्ठिर बोले– ''शकुनि जी! इस अनाचार्य को हम आर्यावर्त्ती लोग पसन्द नहीं करते। और न ही दाँव घात टेढ़पन को हम सरल स्वभाव आर्य जानते हैं। हम तो युद्ध जानते हैं जिसमें न छल, न कपट। दो-दो हाथ किए और मैदान साफ।''

शकुनि ने उत्तर दिया– ''धर्मराज! इसमें टेढ़ापन कौन-सा है? गिने हुए घर, गिनी हुई नरदें। स्पष्ट दीखने वाले और सबके सामने फेंके जाने वाले पासे। क्षत्रिय को युद्धप्रिय सबने कहा है। युद्ध कई प्रकार से होता है– शस्त्रयुद्ध, गदायुद्ध, मल्लयुद्ध, धनुष-बाण-युद्ध। यहाँ जुए में भी पासे बाण और दाँव धनुष समझो। यह अस्त्रयुद्ध है। हाँ, यदि निर्बलता आदि दोषों के कारण तुम अपने को असमर्थ समझते हो तो साफ तौर पर, मैदान छोड़कर, कायर पुरुषों की भाँति घर चले जाओ। कायरों को वीर जीता ही करते हैं। कायर मैदान से टलते ही हैं, तुम भी पीछे हट जाओ।''

शकुनि के इन वचनों से युधिष्ठिर के अहम् को ठेस लगी। मायावी शकुनि के वाग्जाल को वे न समझ सके और झट बोल उठे– ''यदि तुम युद्ध का निमन्त्रण देते हो तो मैं सब प्रकार के युद्ध के लिए तैयार हूँ, क्योंकि ललकारने पर मैं पीछे नहीं हट सकता।'' और इस प्रकार एक अत्यन्त विनाशकारी युद्ध में देश का सर्वनाश हो गया।

विदुर, द्रोण, धृतराष्ट्र, भीष्म सभी द्यूतकर्म के विरोधी थे, क्योंकि वे सभी वेदानुयायी थे। वेद में स्पष्टत: द्यूतकर्म निषिद्ध है– ''अक्षैर्मा दीव्य:'' (ऋग्० 10/34/13)। मनुस्मृति अध्याय 7, श्लोक 46/50/53 के अनुसार यह श्रुति, स्मृति के विरुद्ध होने से अधर्म है और अधर्म का फल दु:ख ही होता है। मनुस्मृति 9/227 में तो यहाँ तक लिखा है–

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत्।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्।।

हँसी के लिए भी जुआ खेलना वैर कर बतलाकर जुआरी को देश से निकालने का विधान किया है। इन संस्कारों में पले विदुर आदि सभी इसके विरोधी थे। ये सब द्यूतसभा में गए तो भी डरते-डरते। आरम्भ में दुर्योधन भी जुए के पक्ष में नहीं था। अन्तत: जो जुआ खेला गया वह सब अनार्य देश गान्धार के राजकुमार, अनार्य स्वभाव, 'मायायुक्त' शकुनि की माया का कुफल था। यदि जुआ आर्यप्रिय कर्म होता तो कौरव-पाण्डव कभी पहले भी खेल रहे होते तथा दुर्योधन भी उसमें निष्णात होता । तब उसकी जगह शकुनि पासे क्यों फेंकता? युधिष्ठिर भी इतनी जल्दी सब कुछ न गँवा बैठता। इससे सिद्ध है कि महाभारत युद्ध शकुनि के हस्तक्षेप के कारण हुआ।

शकुनि गान्धार देश का राजा होने से विदेशी था। उसे पड़ोसी देश भारत का उत्कर्ष कैसे सहन हो सकता था? भाई-भाई को आपस में लड़ाके उसने अपना हित साधने का

प्रयास किया। उसने भले ही कुछ न पाया हो, पर भारत अपना सब कुछ गँवा बैठा। उसकी भरपाई आज तक न हो सकी। यह एक विदेशी को बीच में डालने का परिणाम था। इसी को लक्ष्य करके दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में लिखा था– ''जब भाई-भाई आपस में लड़ते हैं तो तीसरा पंच बन बैठता है।''

इतिहास अपने को दुहराता है। भारत 1947 में स्वतंत्र हुआ। 15 अगस्त को वह भारत और पाकिस्तान के रूप में दो भागों में बँट गया। विभाजन का काम तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर जनरल लार्ड माउंटबेटन को सौंप दिया गया। खिसियानी बिल्ली खम्बा नोचे। भारत के अन्यथास्वस्थ शरीर में कश्मीर कैंसर बन गया। यह किस प्रकार हुआ, इसे स्पष्ट करने के लिए हम भारतीय सेना के रिटायर्ड मेजर जनरल राजेन्द्रनाथ की पुस्तक 'Military Leadership in India From Vedic Times to Indo-Pak War' के कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण अंश यहाँ उद्धृत कर रहे हैं–

''सन् 1947 में देश के स्वतंत्र हो जाने पर यहाँ रहे अंग्रेज गवर्नर जनरल लार्ड माउंटबेटन और उसके अधीनस्थ ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों ने कश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ को सौंपने की सलाह दी। इससे पाकिस्तान को कश्मीर के मामले को अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उठाने का अवसर मिला। इसके परिणामस्वरूप भारत को पाकिस्तान के तीन आक्रमणों का सामना करना पड़ा। यह रहस्योद्घाटन मेजर जनरल राजेन्द्रनाथ ने अपनी पुस्तक 'Military Leadership in India from Vedic Times to Indo-Pak War' में किया है। इन अफसरों ने कश्मीर का भारत में विलय हो जाने पर भी बने-बनाये काम को बिगाड़ने का भरसक यत्न किया और 1947-48 के पहले युद्ध में परदे के पीछे से पाकिस्तान का साथ दिया। पुस्तक में आगे लिखा है कि 27 नवम्बर तक भारत में रहे प्रधान सेनापति जनरल लोक हार्ट और उसके बाद जनरल बुशेर (Boucher) पाकिस्तान के सेनाध्यक्षों को भारत-पाक युद्ध के दिनों में बराबर परामर्श देते रहे– दोनों का निरन्तर सम्पर्क बना रहा। उन्होंने ही पठान कबायलियों और पाकिस्तान की नियमित सेनाओं के द्वारा जन्मू-कश्मीर पर कब्जा करने की योजना बनाई थी। सरदार पटेल और भारतीय सेनाधिकारियों के विरोध के बावजूद (प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की अनुमति से) लार्ड माउंटबेटन ने भारतीय सेनाधिकारियों को प्रशिक्षित करने के बहाने ब्रिटिश कमांडरों को रोक लिया था। पुस्तक के लेखक के अनुसार लार्ड माउंटबेटन की पाकिस्तान के साथ सहानुभूति थी। इतना ही नहीं, लार्ड माउंटबेटन ने स्वयं मुझसे कहा था कि मैं (माउंटबेटन) कश्मीर के पाकिस्तान में विलय के पक्ष में था।'' *–इंडियन एक्सप्रेस, नयी दिल्ली, 7 जून 1990– इंगलिश से हिन्दी में अनुवाद हमारा है– लेखक*

ऐसा क्यों हुआ? भगवान् मनु द्वारा मनुस्मृति में निर्दिष्ट तथा ऋषि दयानन्द द्वारा स्वरचित सत्यार्थप्रकाश में प्रतिपादित सिद्धान्त की उपेक्षा के कारण। सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास

में आज से 125 वर्ष पूर्व दयानन्द ने लिखा था– ''जिनकी जड़ें अपने देश की मिट्टी में हों अर्थात् जो स्वदेशोत्पन्न हों, उन्हीं को मंत्री बनाना चाहिए।'' महाभारत काल में युधिष्ठिर ने और वर्तमान काल में जवाहरलाल नेहरू ने मनु के आदेश की अवहेलना की, इसलिए दोनों को युद्धों का सामना करना पड़ा। बाहर से आयातित शासक कुशल तो हो सकता है, पर हितैषी नहीं हो सकता। अवसर मिलने पर काटने से नहीं चूकेगा।

सत्यानाशी युधिष्ठिर

युधिष्ठिर को इन्द्रप्रस्थ गये कुछ ही दिन हुए थे कि दुर्योधन की चण्डाल चौकड़ी ने धृतराष्ट्र को जुआ कराने के लिए फिर तैयार कर लिया। इस बार हारने वाले के लिए 12 वर्ष वनवास और 13वाँ वर्ष अज्ञातवास रक्खा। मन में यह सोचा होगा कि जुए में हमारी जीत निश्चित है और 13 वर्ष में हम प्रजा को अपने अनुकूल कर पाण्डवों को सदा के लिए सत्त्वहीन कर देंगे। (कैकेयी ने भी राम के लिए 14 वर्ष के वनवास की अवधि नियत करने में कुछ इसी प्रकार सोचा होगा) इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए सभा का आयोजन किया गया। सभा में भीष्म, द्रोण, विदुर, अश्वत्थामा आदि उपस्थित हुए। इन सबने एक स्वर से कहा— ''यदि देश का, कुरुवंश का भला चाहते हो तो जुआ मत खिलाओ।'' माता गान्धारी ने कहा कि ''मुझे विश्वास है कि दुर्योधन इस कुल का नाश कराये बिना न रहेगा।'' उसने यहाँ तक कह डाला— ''मुझसे भूल हुई जो इसे पाला-पोसा।'' पर इन सबके कहने के विपरीत जुआ खेलना निश्चित हो गया। ठगों व जुआरियों के दूत प्रातकासी ने इन्द्रप्रस्थ जाकर युधिष्ठिर से कहा— ''आपके पिता धृतराष्ट्र आपको जुआ खेलने के लिए बुला रहे हैं,'' तो धर्मराज ने कहा— ''मैं यह जानता हूँ कि जुआ राजा के लिए व्यसन और प्रजा के लिए क्षयकारी कर्म है। पर मुझे बुलाया गया है, इसलिए मेरे लिए 'न' करना संभव नहीं। मैं अवश्य जाऊँगा।'' और वह हस्तिनापुर जा पहुँचे। उनके राजप्रासाद में पहुँचते ही राजसभासद बड़े दु:ख, क्रोध व शोक के साथ कहने लगे— ''धिक्कार है इनके भाइयों को जो इसे इस पाप से नहीं रोकते। निश्चय ही, कुरुवंशियों के सर्वनाश का समय निकट आ गया है।'' वस्तुत: युधिष्ठिर राज्य करने के अयोग्य थे। राजनीति का सिद्धान्त है—

व्रजन्ति ते मूढधिय: पराभवम्।
भवन्ति मायाविषु ये न मायिन:।।

नीति का वचन है—

सुहृदां हितकामानां य: शृणोति न भाषितम्।
विपत संनिहिता तस्य स नर: शत्रुनन्दन:।

अपनी मूर्खता से युधिष्ठिर ने जानबूझकर अपने को, अपने कुल को और अपने राष्ट्र को सर्वनाश की भट्टी में झोंक दिया।

गुरुजनों की आज्ञा व आशीर्वाद

सुना जाता है कि प्राचीन काल में जो गुरुजनों की अनुमति लिए बिना युद्ध करता था वह उन माननीय जनों की दृष्टि में गिर जाता था और जो शास्त्र की आज्ञानुसार माननीय पुरुषों की आज्ञा लेकर युद्ध करता था उसकी विजय उस युद्ध में अवश्य होती थी। इसलिए युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ तुरन्त भीष्म पितामह के पास जा पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने अपने दोनों हाथों से पितामह के चरणों को दबाया और उनसे इस प्रकार कहा— ''हे पितामह ! मुझे आपके साथ युद्ध करना है, एतदर्थ मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ। इसके लिए मुझे आज्ञा और अपना आशीर्वाद प्रदान करें।''

भीष्म बोले— '' यदि इस युद्ध के समय तुम इस प्रकार मेरे पास न आते तो मैं तुम्हें पराजित होने का शाप दे देता। पुत्र! अब मैं प्रसन्न हूँ और तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम युद्ध करो और विजय पाओ। इसके अतिरिक्त और भी जो तुम्हारी अभिलाषा हो, वह इस युद्ध-भूमि में प्राप्त करो। अर्जुन! तुम वर माँगो, तुम मुझसे क्या चाहते हो? ऐसी स्थिति में तुम्हारी पराजय नहीं होगी। परन्तु—

अर्थस्य पुरुषो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्यमेन् कौरवै:।।

'' राजन्! मनुष्य अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं। यह सर्वथा सत्य है। मैं कौरवों के द्वारा अर्थ से बँधा हुआ हूँ।

'' आज मैं नपुंसक के समान वचन बोल रहा हूँ। धृतराष्ट्र के पुत्रों ने धन के द्वारा मेरा भरण-पोषण किया है। इसलिए (तुम्हारे पक्ष में होकर) उनके साथ युद्ध करने के अतिरिक्त तुम क्या चाहते हो, यह बताओ।''

युधिष्ठिर बोले— ''आप युद्ध तो दुर्योधन की ओर से करें, पर मेरा हित चाहते हुए मुझे सदा मेरे हित में सलाह देते रहें। मैं यही वर चाहता हूँ। पितामह! आप तो किसी से पराजित हो नहीं सकते, फिर मैं आपको युद्ध में कैसे जीत सकूँगा? यदि आप मेरा हित चाहते हैं तो मेरे हित की सलाह दीजिए।''

भीष्म बोले— ''ऐसा कोई वीर नहीं है जो युद्धभूमि में मुझे पराजित कर सके। साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, मुझे परास्त नहीं कर सकता।''

युधिष्ठिर बोले– "पितामह! आपको नमस्कार है। आप बार-बार आशीर्वाद देते हैं– 'विजयी भव।' पर आपके जीते-जी तो मैं जीत नहीं सकता। इसलिए अब मैं आपसे इतना ही चाहता हूँ कि आप मुझे युद्ध में शत्रुओं द्वारा अपने मारे जाने का उपाय बता दें।"

भीष्म बोले– "बेटा! मेरा मृत्युकाल अभी नहीं आया है, इसलिए इसका उत्तर पाने के लिए फिर कभी आना।"

तदनन्तर युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ सेना के बीच से होकर गुरु द्रोणाचार्य के पास जा पहुँचे। वहाँ भी बहुत कुछ भीष्म पितामह और युधिष्ठिर के बीच हुआ संवाद दुहराया गया।

आचार्य द्रोण ने इतना विशेष कहा– "मैं युद्ध दुर्योधन के लिए करूँगा, परन्तु जीत तुम्हारी चाहूँगा। राजन्! तुम्हारी जीत निश्चित है, क्योंकि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे मंत्री हैं। जहाँ धर्म है, वहाँ कृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। कुन्तीकुमार! जाओ, युद्ध करो। और कहो, तुम्हें और क्या बताऊँ?"

युधिष्ठिर बोले– "आप मेरे मनोवांछित प्रश्न को सुनिये। आप किसी से भी पराजित होने वाले नहीं हैं, तब मैं युद्ध में आपको कैसे जीत सकूँगा? इसलिए हे आचार्यप्रवर! अब आप स्वयं अपने वध का उपाय बताइये। मैं आपके चरणों में प्रणाम करके यह पूछ रहा हूँ।"

द्रोणाचार्य बोले– " जब मैं हथियार डाल अचेत-सा होकर आमरण अनशन के लिए बैठ जाऊँ उस अवस्था में कोई श्रेष्ठ योद्धा युद्ध में मुझे मार सकता है।

" यदि मैं किसी विश्वसनीय व्यक्ति से कोई अत्यन्त अप्रिय समाचार सुन लूँ तो मैं हथियार नीचे डाल दूँगा। "

तत्पश्चात् किंचिद् भिन्न शब्दों में कृपाचार्य के साथ भी युधिष्ठिर की यही बातें हुईं।

कृपाचार्य की अनुमति प्राप्त करके युधिष्ठिर अपने मामा शल्य के पास पहुँचे और बोले– "दुर्धर्ष वीर! मैं पापरहित और निरपराध रहकर आपके साथ युद्ध करूँगा। इसके लिए आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपकी अनुमति पाकर मैं समस्त शत्रुओं को युद्ध में परास्त कर सकता हूँ।"

युधिष्ठिर की बात सुनकर शल्य बोले– "तुमने मेरी अनुमति चाहकर मेरा बड़ा सम्मान किया है, इसलिए मैं तुमसे पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ– तुम युद्ध करो और विजय प्राप्त करो। वीर! तुम मुझे कुछ और बताओ जिससे तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो। मैं तुम्हें क्या दूँ? इस परिस्थिति में, युद्ध विषयक सहयोग को छोड़कर, तुम मुझसे क्या चाहते हो?"

युधिष्ठिर बोले– "मामा जी, जब युद्ध के लिए उद्योग चल रहा था, उन दिनों जो

आपने वर दिया था, वही वर आज मेरे लिए आवश्यक है। मेरा यह विश्वास है कि सूतपुत्र कर्ण का अर्जुन के साथ युद्ध होने पर दुर्योधन आप जैसे शूरवीर को ही उसका सारथि नियुक्त करेगा। उस समय आपको उसका उत्साह भंग करना चाहिए।''

शल्य बोले— ''तुम्हारा वह अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। जाओ, निश्चिन्त होकर युद्ध करो। मैं तुम्हारे वचन का पालन करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।''

इस प्रकार मामा शल्य की अनुमति पाकर युधिष्ठिर वहाँ से बाहर निकल गये।

द्रोणाचार्य और एकलव्य

पौराणिक कथा के आधार पर, कहा जाता है, कि एकलव्य को अतिशूद्र जान, द्रोणाचार्य ने विद्या देने से इनकार कर दिया था। इस प्रकार की कल्पनाएँ प्राचीन वैदिक धर्म, सभ्यता, संस्कृति एवं इतिहास को विकृत रूप में प्रस्तुत करने के लिए की गई हैं। जो द्रोण दासी-पुत्र विदुर, वेश्यापुत्र युयुत्सु, सूतपुत्र कर्ण व संजय को शिक्षा दे रहा हो तथा जिस समय दासीपुत्र विदुर और वेश्यापुत्र संजय का राजा और राजसभा में सम्मान हो, उस समय जाति के आधार पर शिक्षा से किसी को वंचित करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में धनुर्धारी एकलव्य का भेंट लेकर उपस्थित होना और राजा का उसे आदर सहित स्वीकार करना इस बात का प्रमाण है कि एकलव्य को शूद्र होने के कारण द्रोणाचार्य ने प्रवेश देने से इन्कार नहीं किया था। सभापर्व (अध्याय 37/64 तथा 44/21) में शिशुपाल ने श्रीकृष्ण की अग्रपूजा का विरोध करते हुए एकलव्य की गिनती वहाँ पर उपस्थित कृपाचार्य, द्रुपद, भीष्मक (रुक्मणी के पिता) आदि महारथियों की पंक्ति में की थी। जन्मगत जाति के आधार पर यदि एकलव्य को विद्यालय में प्रवेश न दिया गया होता तो राजसूय यज्ञ में उसे इस प्रकार सम्मानित कैसे किया गया होता? अर्जुन का एक नाम 'सव्यसाची' है, क्योंकि वह प्राय: बायें हाथ से बाण चलाया करता था। एकलव्य निषाद था। निषाद आजकल भी बाएँ हाथ से बाण चलाते देखे जा सकते हैं। वस्तुत: निषाद तो जन्मजात धनुर्धारी होते हैं। उन्हें थोड़ा-सा भी प्रशिक्षण कुशल धनुर्धारी बना देता है। प्रचलित कथा के अनुसार भी यह सिद्ध नहीं होता कि आचार्य द्रोण के पक्षपात का कारण एकलव्य का निषादपुत्र होना था।

कौरव-पाण्डवों को अस्त्रविद्या सिखाने के लिए भीष्म जी ने द्रोणाचार्य को नियुक्त किया था। एक दिन एकान्त में जब द्रोणाचार्य पूर्ण विश्वासयुक्त मन से बैठे थे तो उन्होंने पास बैठे सब शिष्यों से कहा– "राजकुमारो! मेरे मन में एक कार्य करने की बड़ी इच्छा है। अस्त्रशिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् तुम लोगों को मेरी वह इच्छा पूर्ण करनी होगी। इस विषय में तुम्हारे क्या विचार हैं, बतलाओ।" द्रोण की इच्छा थी द्रुपद से बदला लेने की जिसने कभी उनके साथ हुए वचन को समय आने पर निबाहने से इनकार कर दिया था।

आचार्य की यह बात सुनकर सब चुप रहे। परन्तु अर्जुन ने गुरुवर की इच्छा पूरी करने का विश्वास दिला दिया और यथासमय उसे पूरा भी कर दिखाया था। इस पर द्रोणाचार्य

उसे गले लगाकर हर्ष के आवेग में रो पड़े और बोले— ''अर्जुन! मैं ऐसा करने का यत्न करूँगा जिससे इस संसार में दूसरा कोई धनुर्धर तुम्हारे समान न हो। मैं तुमसे यह सच बात कहता हूँ।''

आचार्य का अस्त्रकौशल सुनकर सहस्रों राजकुमार धनुर्विद्या सीखने के लिए वहाँ एकत्र होने लगे। एक दिन निषादपुत्र एकलव्य अस्त्रविद्या सीखने के लिए द्रोण के पास आया। परन्तु द्रोण ने उसे अपना शिष्य नहीं बनाया। कौरवों की ओर दृष्टि रखकर ही उन्होंने ऐसा किया। एकलव्य ने मन-ही-मन द्रोण को अपना परमोच्च गुरु मानकर अभ्यास आरम्भ कर दिया और अद्‌भुत कौशल प्राप्त कर लिया।

एक दिन समस्त पाण्डव आचार्य की अनुमति लेकर हिंसक पशुओं का शिकार खेलने निकल पड़े। उधर एक कुत्ता घूमता-घूमता एकलव्य की ओर जा निकला और भौंकने लगा। यह देखकर एकलव्य ने अपने अस्त्रलाघव का परिचय देते हुए उस भौंकते कुत्ते के मुख में मानो एक ही साथ सात बाण मारे। कुत्ते का मुँह बाणों से भर गया और उसी अवस्था में वह पाण्डवों के पास जा पहुँचा। उसे देखकर पाण्डव विस्मित हो गये। पाण्डवों ने उस वनवासी वीर की खोज करते हुए उसे निरन्तर बाण चलाते हुए देखा। इस पर अर्जुन ने आचार्य द्रोण से कहा— ''उस दिन तो आपने मुझे अकेले छाती से लगाकर बड़ी प्रसन्नता से कहा था कि मेरा कोई भी शिष्य तुमसे बढ़कर नहीं होगा। फिर आपका यह अन्य शिष्य निषादराज का पुत्र अस्त्रविद्या में मुझसे बढ़कर कुशल और सम्पूर्ण लोक से भी अधिक पराक्रमी कैसे हो गया?''

तब द्रोणाचार्य दो घड़ी तक कुछ सोचते-विचारते रहे। फिर निश्चय करके वे अर्जुन को साथ लेकर एकलव्य के पास गये।

एकलव्य अर्जुन से ही नहीं, सम्पूर्ण लोक से भी अधिक पराक्रमी हो गया था। तब अपनी बात रखने— छात्रावस्था में अर्जुन को दिये वचन को पूरा करने के लिए— आचार्य ने एकलव्य को सदा के लिए असमर्थ करना आवश्यक समझा और इसलिए उन्होंने एकलव्य से उसके दाहिने हाथ का अँगूठा माँग लिया। और एकलव्य ने द्रोण का यह दारुण वचन सुनकर अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करते हुए पहले की ही भाँति प्रसन्नमुख और उदारचित्त रहकर बिना कुछ सोच-विचार किये अपने दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर द्रोणाचार्य को दे दिया।

एकलव्य ने निषादपुत्र होते हुए भी एक सच्चे ब्राह्मण का आदर्श प्रस्तुत किया और द्रोणाचार्य ने ब्राह्मण होते हुए एक अत्यन्त निकृष्ट व्यक्ति के समान व्यवहार किया। अर्जुन ने भी कुछ अच्छा नहीं किया। गुरु और शिष्य दोनों ने अपने-अपने अहम् की तुष्टि के लिए एक उभरती हुई प्रतिभा को धूलि में मिला दिया।

प्राचीन काल में विद्याध्ययन के लिए शिष्य गुरुकुल में जाया करते थे। द्रोणाचार्य पहले

गुरु हुए जो ट्यूटर बनकर शिष्यों को पढ़ाने के लिए उनके घर में जाकर रहे। उस रूप में भी वे ईमानदार नहीं रहे। एकलव्य की गुरुभक्ति से प्रसन्न होकर उन्होंने प्रायश्चित्तरूप इतना ही किया कि संकेत से उसे यह बता दिया कि तर्जनी और मध्यमा के संयोग से बाण पकड़कर किस प्रकार धनुष की डोरी खींचनी चाहिए। तब से वह निषादकुमार अपनी अँगुलियों द्वारा ही बाण सन्धान करने लगा। पर उस अवस्था में वह उतनी शीघ्रता से बाण नहीं चला पाता था, जैसे पहले चलाया करता था। अध्यापन काल में भी द्रोण अपने शिष्यों के प्रति व्यवहार में पक्षपात से काम लेते थे। कुलगुरु होकर भरी सभा में कुलवधू को नंगी किये जाते देखते रहे और युद्ध में 'अर्थस्य पुरुषो दासः' कहकर उन्हीं आततायियों की सहायता की। ऐसे थे द्रोणाचार्य।

नाहं वरयामि सूतम्

कहा जाता है कि स्वयंवर के अवसर पर जब कर्ण लक्ष्यवेध करने उठा तो द्रौपदी ने चिल्लाकर कहा– ''मैं सूतपुत्र का वरण नहीं करूँगी।'' यह कालान्तर में प्रक्षिप्त वचन है। महर्षि वेदव्यास अन्यत्र लिखते हैं– 'चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः शूद्रादतिरिच्यते'। तथा 'शूद्रयोनौ तु जज्ञे द्वैपायनादपि' वेदव्यास जी ने शूद्रयोनि (दासी) से विदुर को उत्पन्न किया था। अनुशासनपर्व में लिखा है, विश्वामित्र इसी जन्म में क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये थे। मातंग चण्डाल कुल में जन्म लेकर ऋषि बन गये थे (अनु० पर्व 27/8)। अज्ञातकुलशील सत्यकाम वेश्या (चरित्रहीन स्त्री जाबाला) से उत्पन्न हुए थे। दासी से उत्पन्न कवष ऐलूष वेदद्रष्टा ऋषि हुए। वेदव्यास के लिए ऋषीणां ऋषि भगवान् मनु का प्रमाण है कि 'अधर्माचरण से ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त होता है और धर्माचरण से निकृष्ट शूद्र भी ब्राह्मण हो जाता है।' और गीता में वेदव्यास स्वयं भगवान् कृष्ण से कहलवाते हैं– 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'। ऐसे वेदव्यास महाभारत में कर्ण को अधिरथ सूत का पुत्र होने के कारण (जबकि वेदव्यास यह भी जानते थे कि वास्तव में कर्ण सूतपुत्र न होकर कुन्तीपुत्र था) स्वयंवर में भाग लेने से कैसे वंचित कर सकते थे? महर्षि वेदव्यास ने लिखा है–

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च।। *वन० 112/11*

अर्थात् उत्तम कर्म करने से शूद्र योनि में उत्पन्न मनुष्य वैश्य, क्षत्रिय व ब्राह्मण हो जाता है। और इसके विपरीत ब्राह्मण हीन कर्मों को करता हुआ शूद्र पदवी को प्राप्त हो जाता है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले वेदव्यास उस समय कर्ण को लक्ष्य करके 'नाहं वरयामि सूतम्' कैसे लिख सकते थे?

स्त्रियों की स्थिति

राजकुमारों की अस्त्रपरीक्षा के अवसर पर रंगभूमि में चारों वर्णों के पुरुषों के साथ गान्धारी, कुन्ती तथा राजघरानों की स्त्रियों की उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि आर्य लोग स्त्रियों को घरों में कैद नहीं रखते थे। वे विशेष अवसरों पर बड़ी-बड़ी सभाओं में भाग लेती थीं। राजनीति तथा प्रशासन में भी उन्हें अधिकार प्राप्त था। रानी के रूप में गान्धारी धृतराष्ट्र के साथ बैठकर खुल्लमखुल्ला बहस में भाग लेती तथा बलपूर्वक अपनी बात कहती थीं, और धृतराष्ट्र की आलोचना करने में संकोच नहीं करती थीं। दुर्योधन तक को खरी-खोटी सुनाने में भी पीछे नहीं रहती थीं। स्त्रियों तथा शूद्रों के प्रति निन्दात्मक प्रकरण महाभारत में मध्यकाल के प्रक्षेप हैं जब 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' जैसी अवैदिक मान्यताएँ प्रचलित हो गई थीं।

सती-प्रथा– उसी काल के प्रभाव के कारण माद्री का पाण्डु के साथ सती होना लिखा गया। कौरव कुल में यह प्रथा मान्य नहीं थी। यदि होता तो पाण्डु की दूसरी पत्नी कुन्ती भी क्यों न सती होती? महाराज शान्तनु के साथ सत्यवती और विचित्रवीर्य के साथ अम्बिका तथा अम्बालिका, जरासन्ध, दुर्योधन तथा कर्ण आदि की स्त्रियाँ भी सती हो जातीं। रामायण काल में भी दशरथ के साथ तीन में से एक भी पत्नी सती नहीं हुई। उत्तर काल में सती-प्रथा को प्रमाणित करने के लिए ही महाभारत आदि ग्रन्थों में उनका प्रक्षेप किया गया। हो सकता है, बाल-विवाह की सती-प्रथा को भी यवनकाल में मान-रक्षा के लिए चलाया गया हो। अहल्याबाई और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई जैसी साहसी नारियाँ उस समय भी सती न होकर राज्य-संचालन करती रहीं।

अभिमन्यु की आयु

अभिमन्यु को प्राय: एक बालक या किशोर के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। तदनुसार उत्तरा से उसका विवाह भी 16 वर्ष की आयु में हुआ बताया जाता है। महाभारत काल तक लोग वेदानुयायी थे। अत: 25 वर्ष की आयु से पूर्व किसी के विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। अभिमन्यु यदुकुलदिवाकर श्रीकृष्ण का भानजा था। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार यादव कुल का कोई भी पुरुष 25 वर्ष से कम आयु में नहीं विवाहा गया। तब श्रीकृष्ण के भानजे और धर्मराज के वंशज का ऐसा होना कैसे संभव था? विराट नगर में युद्ध पर विचारार्थ जो सभा हुई थी उसमें भी अभिमन्यु सम्मिलित था। उद्योग पर्व 1/6 में उसे बलवीर्य में अर्जुन के समान बताया गया है। मराठी में प्रकाशित श्रीकृष्णचरित्र के अनुसार श्रीकृष्ण, उनके पुत्र प्रद्युम्न और अर्जुन का विवाह भी 25 वर्ष की आयु में ही हुआ था। श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का विवाह लगभग 30 वर्ष की आयु में हुआ था। श्री वैद्य के अनुसार अर्जुन से सुभद्रा का विवाह अभिमन्यु के विवाह से 33 वर्ष पहले हुआ था। क्योंकि पति-पत्नी दोनों युवा और स्वस्थ थे, इसलिए हो सकता है, अभिमन्यु का जन्म प्रथम वर्ष में ही हो गया हो। इस प्रकार अभिमन्यु का विवाह 32 वर्ष की आयु से कुछ ऊपर ही हुआ होगा। यह सब जानते हैं कि युद्धकाल में अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा गर्भवती थी। उसी से यथासमय उसके पुत्र— पाण्डु-कुल के एकमात्र उत्तराधिकारी परीक्षित का जन्म हुआ था।

अभिमन्यु का अन्याय से वध

अभिमन्यु ने थोड़े ही काल में सैकड़ों वीरों के अंग-प्रत्यंग काटकर उन्हें व्यर्थ कर दिया। एक अर्जुन-पुत्र से कौरवों की भारी हानि देख दुर्योधन ने कर्ण आदि से कहा—हमारा अभिषिक्त सेनापति धनुर्वेद का आचार्य होने पर भी एक लड़के को वश में नहीं कर पा रहा है। कदाचित् शिष्य-पुत्र का मोह उसे रोक रहा है। कृष्ण को भी अर्जुन के प्रति कुछ इसी प्रकार का सन्देह हुआ था—पितामह के प्रति श्रद्धा अर्जुन को भीष्म पर प्रहार करने से रोक रही जान पड़ती है। दुर्योधन का कहना था कि शिष्य भी पुत्र की भाँति प्रिय होता है। अभिमन्यु भी तो उसी शिष्य का पुत्र है, इसीलिए आचार्य हिचक रहे हैं। पर युद्धभूमि में आकर यह मोह अच्छा नहीं। यह सुन दु:शासन ने दुर्योधन से कहा कि मैं इसे मार दूँगा या कैद कर लूँगा।

शास्त्रकारों ने जैसे प्रत्येक कर्म के नियम निर्धारित कर रक्खे हैं, वैसे ही युद्ध के भी नियम हैं जिनको तोड़कर लड़ने वाला अपराधी माना जाता है। नीति-विरुद्ध युद्ध को कूटयुद्ध कहते हैं। वह निन्दित होने से पाप है। सुप्त, मूर्च्छित, नग्न, शस्त्रविहीन, देखने वाले या दूसरे से लड़ रहे को न मारे। एक से एक ही लड़े, यह भी नियम है। जो जिस शस्त्र को नहीं जानता, उस पर वह शस्त्र न चलावे, यह भी नियम है। अभिमन्यु-वध में ये नियम तोड़े गये। जब अभिमन्यु युद्ध कर रहा था, कौरव दल में बहुत क्षोभ हो रहा था। अभिमन्यु ने दुर्योधन-पक्ष के अनेक वीरों का वध किया था। तब कौरवों ने अपनी सेना को चक्रव्यूह में तैयार कर पाण्डवों को युद्ध के लिए ललकारा। पाण्डवों में कृष्ण, अर्जुन, प्रद्युम्न और अभिमन्यु के अतिरिक्त अन्य कोई इसका भेदन नहीं जानता था। कृष्ण, अर्जुन और प्रद्युम्न दूसरे मोर्चों पर लड़ रहे थे, इसलिए युधिष्ठिर ने अभिमन्यु को बुलाकर कहा— ''सुभद्रानन्दन! अब तेरे सिवा इसका भेदक कोई नहीं। शीघ्रता से शत्रुसेना का नाश करो।'' धर्मराज की आज्ञा के अनुसार वीर अभिमन्यु ने कहा— ''मैं अवश्य इस चक्रव्यूह का भेदन कर शत्रुदल का ध्वंस करूँगा, क्योंकि मेरे पिता ने प्रवेश की शिक्षा दी है। पर यदि कोई आपत्ति आ जाय तो मुझे चक्रव्यूह से निकलना नहीं आता। आज्ञा दीजिए, मैं रिपुदल-दमन करने को रथ हाँकूँ।'' अभिमन्यु का वचन सुनकर आशीर्वाद देते हुए धर्मराज ने कहा— ''ईश्वर तेरा बलवीर्य और उत्साह बढ़ाये और विजय प्रदान करे। हम सब तेरे पीछे रहेंगे।'' अभिमन्यु युद्ध करता आगे बढ़ रहा था और भीम आदि उसके पीछे जा रहे थे और तीक्ष्ण बाणों से

शत्रु का संहार कर रहे थे। तब सिन्धुराज जयद्रथ ने अपनी सेना से उन्हें आगे जाने से रोक दिया। चक्रव्यूह के भीतर अभिमन्यु ने सैकड़ों को वृक्षों की भाँति काट-काटकर फेंक दिया। इसी क्रम में उसने दुर्योधन के पुत्र लक्ष्मण का वध किया और रुक्मथ का सिर उड़ा दिया। तब यह जान कि अकेला कोई भी योद्धा इसे नहीं जीत सकता, नियमविरुद्ध द्रोण, अश्वत्थामा, कर्ण, कृप, कृतवर्मा और बृहद्वल इन महारथियों ने एक साथ वीर अभिमन्यु पर आक्रणण कर दिया। इन छह में से एक बृहद्वल को तो वीर अभिमन्यु ने यमलोक पहुँचा दिया। धनुर्युद्ध, गदायुद्ध आदि अनेक प्रकार से युद्ध हुआ। पर एक अकेला छह महारथियों का सामना कैसे, कब तक कर सकता था। द्रोणाचार्य का इशारा पाकर कर्ण ने अपने बाण से उसका धनुष तोड़ डाला, कृतवर्मा ने उसके रथ के घोड़े मार डाले और कृपाचार्य ने सारथि को मार दिया। तब अभिमन्यु ढाल और तलवार लेकर अकेला ही उनके बीच कूद पड़ा। द्रोण ने मूठ के पास से तलवार तोड़ डाली। कर्ण ने ढाल के टुकड़े-टुकड़े कर दिये, तब चक्र से लड़ा। जब वह भी निरुपयोगी हो गया तब गदा लेकर दौड़ा और दुःशासन-पुत्र से गदायुद्ध हुआ। एक-दूसरे की चोटों से एक बार मूर्छा में चले गये। दैवयोग से दुःशासन-पुत्र की मूर्छा कुछ पहले दूर हो गई। उस समय उठते अभिमन्यु के सिर पर उसने जोर से गदा मारी जिससे वह तत्काल वीरगति को प्राप्त हुआ। इस वीर की मृत्यु से कौरवों में आनन्द, पाण्डवों में महाशोक और जनसाधारण में इस धर्मविरुद्ध कुकृत्य की निन्दा होने लगी।

सन्ध्या होने से दोनों दल अपनी-अपनी छावनी में आ गये। उस समय धर्मराज अभिमन्यु के गुणों का स्मरण कर विलाप करने लगे। कभी कहते, मैं भाई अर्जुन को क्या कहकर सन्तोष दूँगा, देवी सुभद्रा को कैसे शान्त करूँगा और कभी कहते, यह सब कुछ मेरे कारण हो रहा है। व्यास जी ही किसी तरह उन्हें शान्त कर पाये। इतने में संशप्तकों का वध करके श्रीकृष्ण सहित अर्जुन भी छावनी में आ गये। आज मार्ग में ही उन्हें अनिष्ट की शंका का पूर्वाभास होने लगा था। यहाँ आकर धर्मराज से अभिमन्यु के वध का समाचार पाते ही उन पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। वह अपने वीर पुत्र के शोक में व्याकुल होने लगे।

जयद्रथ-वध और सूर्यग्रहण

कौरव सेना के सात महारथियों द्वारा अभिमन्यु की इस जघन्य हत्या का बदला लेने के लिए अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि ''कल इस पापी जयद्रथ के मारे जाने से पहले यदि सूर्यदेव अस्ताचल को चले जायेंगे तो मैं यहीं प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। देव, असुर, मनुष्य, पशु-पक्षी, नाग, पितर, निशाचर, देवर्षि, ब्रह्मर्षि– यह चराचर जगत् तथा इससे परे जो कुछ है– सब मिलकर भी जयद्रथ की रक्षा नहीं कर सकेंगे। यदि जयद्रथ पाताल में घुस जाय, आकाश में उड़ जाय या देवलोक या दैत्यों के नगर में जाकर छिप जाय तो भी मैं जयद्रथ का सिर अवश्य काट लूँगा।''

ऐसा कहकर अर्जुन ने दाहिने और बाएँ हाथ से भी गाण्डीव धनुष की टंकार की। अर्जुन के इस प्रकार प्रतिज्ञा करने पर श्रीकृष्ण ने अत्यन्त कुपित होकर अपना पांचजन्य शंख बजाया। अर्जुन ने भी अपना देवदत्त नामक शंख फूँका।

उधर कौरवों की सम्पूर्ण सैन्य शक्ति जयद्रथ की रक्षा में जुट गई। जयद्रथ ने आचार्य द्रोण के पैर छूकर विधिवत् प्रणाम किया और पास बैठकर पूछा–''दूर तक बाण चलाने में, लक्ष्य बेधने में, हाथ की फुर्ती में तथा अचूक निशाना लगाने में मुझमें और अर्जुन में कितना अन्तर है?'' द्रोणाचार्य ने कहा– ''तात! यद्यपि मैंने तुम्हारा और अर्जुन का आचार्यत्व समान रूप से किया है, तथापि संपूर्ण दिव्यास्त्रों की प्राप्ति एवं अभ्यास और क्लेशसहन की दृष्टि से अर्जुन तुमसे बढ़े-चढ़े हैं। तो भी तुम्हें युद्ध में किसी भी प्रकार अर्जुन से डरना नहीं चाहिए। मैं तुम्हारी रक्षा करने वाला हूँ, इसमें संशय नहीं। मैं ऐसा व्यूह बनाऊँगा जिसे अर्जुन पार नहीं कर सकेगा।''

अगले दिन सायंकाल जब सूर्य तीव्र गति से अस्ताचल की ओर जा रहा था तब उतावले हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा– ''महाबाहु! यह सिन्धुराज जयद्रथ अपने प्राण बचाने की इच्छा से भयभीत होकर खड़ा है और उसे द्रोण आदि छह वीर महारथियों ने अपने बीच में कर रक्खा है। रणभूमि में इन छह महारथियों को माया (छल) से परास्त किये बिना इस जयद्रथ को नहीं जीता जा सकता। इसलिए मैं यहाँ सूर्यदेव को ढकने के लिए कोई ऐसी युक्ति करूँगा जिससे अकेला जयद्रथ ही सूर्य को स्पष्ट रूप से अस्त होता हुआ देखेगा। तब वह दुष्ट हर्षपूर्वक अपने जीवन की रक्षा करते हुए तुम्हारे विनाश के लिए उतावला होकर अपने सुरक्षा-चक्र से बाहर आ जायेगा। वैसा अवसर आते ही तुम्हें तत्काल

उसके ऊपर प्रहार करना चाहिए। इस बात पर ध्यान नहीं देना चाहिए कि सूर्यदेव अस्त हो गये या नहीं।''

यह सुनकर अर्जुन बोला– ''ऐसा ही होगा।'' तब योगिराज श्रीकृष्ण ने योगयुक्त होकर अन्धकार की सृष्टि की। अन्धकार की सृष्टि होने पर 'सूर्यदेव अस्त हो गये' ऐसा मानते हुए अर्जुन का अन्त निकट देख कौरव हर्षमग्न हो गये। उस रणक्षेत्र में मग्न हुए सैनिकों ने सूर्य की ओर देखा तक नहीं। केवल जयद्रथ बार-बार मुँह ऊँचा करके सूर्य की ओर देख रहा था। जब जयद्रथ सूर्य की ओर देखने लगा तभी श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले– ''यह जयद्रथ अब तुम्हारा भय छोड़कर सूर्य की ओर देख रहा है, उसके वध का यही अवसर है। तत्काल इसका मस्तक काट डालो और अपनी प्रतिज्ञा सफल करो।'' अर्जुन ने तत्काल वैसा ही किया। जयद्रथ को साठ बाण मारकर यमपुर पहुँचा दिया।

जनसाधारण का यह विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी माया (शक्ति) से कुछ काल के लिए सूर्य को अदृश्य कर दिया था और ज्योंही अर्जुन ने जयद्रथ का मस्तक काटकर आकाश में उछाला त्योंही सूर्य पूर्ववत् प्रकाशित हो गया।

इस वर्ष 24 अक्टूबर को सूर्यग्रहण के अवसर पर बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को दूरदर्शन पर बार-बार यह कहते देखा-सुना गया कि महाभारत काल में एक बार श्रीकृष्ण ने आवश्यकतानुसार सूर्यग्रहण लगा दिया था। साथ-साथ वे यह भी बताते जाते थे कि जब कुछ देर के लिए पृथिवी और सूर्य के बीच में चन्द्रमा आ जाता है तो पृथिवीस्थ लोगों को सूर्य दिखाई नहीं देता। इसी को सूर्यग्रहण कहते हैं। प्रकृति के नियमानुसार यह घटना जब-तब स्वत: होती रहती है। इसे नियन्त्रित कर स्वेच्छानुसार संचालित करना मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर है। श्रीकृष्ण ने यह भी बतला दिया था कि यह सूर्यास्त केवल जयद्रथ को ही दिखाई देगा। यदि सूर्यास्त सचमुच हो गया होता तो कम-से-कम वहाँ उपस्थित सभी लोगों को वैसा दिखाई देना चाहिए था। परन्तु वह तो जयद्रथ के अतिरिक्त अन्य किसी को भी दिखाई नहीं दिया। वस्तुत: सूर्यास्त हुआ ही नहीं था। श्रीकृष्ण ने योगयुक्त होकर यौगिक क्रिया **(Mesmerism or Hipnotism)** के द्वारा जयद्रथ को मोहावस्था या मोहनिद्रा में ग्रस्त कर दिया था। उस अवस्था में मोहावस्था से प्रभावित व्यक्ति वही देखता, सुनता या करता है जो उसका प्रेरक चाहता है। उतनी देर के लिए उसका मन प्रेरक के अधीन होता है। सूर्यास्त हुआ नहीं था, पर जयद्रथ को उसकी प्रतीतिमात्र हो रही थी। उसकी वैसी स्थिति से लाभ उठाकर अर्जुन ने तत्काल उसका सिर उड़ा दिया। यह श्रीकृष्ण की यौगिक शक्ति का चमत्कार या प्रदर्शन था।

श्रीकृष्ण ने प्रतिज्ञा तोड़ी

भीष्मपर्व के अन्तर्गत भीष्मवध के प्रकरण में लिखा है—

पाण्डव वीर बहुत यत्न करने पर भी भीष्म के बाणों से पीड़ित होकर भागते हुए अपने सैनिकों को रोक नहीं पा रहे थे। भीष्म के द्वारा मारी जाती हुई उस विशाल सेना में भगदड़ मच गई। दो आदमी भी एक साथ नहीं भाग रहे थे। उसकी भीषण मार-काट में दैव से प्रेरित होकर पिता ने पुत्र को, पुत्र ने पिता को और मित्र ने प्यारे मित्र को मार डाला। युधिष्ठिर की सारी सेना सिंह से डरी हुई गौओं के समुदाय के समान घबराहट में पड़ गई थी। समस्त सैनिक आर्तनाद कर रहे थे। उस भगदड़ को देखकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा— ''यदि तुम मोह से मोहित नहीं हो रहे हो तो इस भीष्म पर प्रहार करो। तात! पूर्वकाल में विराट् नगर में सब राजा एकत्र थे, तब तुमने सबके सामने और संजय के समीप यह कहा था कि 'युद्ध में जो भी मेरा सामना करने आयेंगे—दुर्योधन के भीष्म, द्रोण आदि सभी सैनिकों को—उनके सगे-सम्बन्धियों तक को मार डालूँगा।' शत्रुदमन! कुन्तीनन्दन! उस कथन को सत्य कर दिखाओ। क्षत्रिय धर्म का स्मरण करके युद्ध करो।''

श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर अर्जुन ने मुँह नीचे किये, तिरछी दृष्टि से इस प्रकार कहा— ''प्रभो! अवध्य पुरुषों का वध करके नरक से भी बढ़कर निन्दनीय राज्य प्राप्त करूँ अथवा वनवास के दु:ख भोगूँ? इन दोनों में कौन मेरे लिए पुण्यदायक होगा? अच्छा, जहाँ भीष्म हैं, उसी ओर घोड़े बढ़ाइये। आपकी आज्ञा का पालन करूँगा, वीर पितामह को मार गिराऊँगा।''

तब श्रीकृष्ण रथ को उसी ओर ले गये जहाँ भीष्म युद्ध कर रहे थे। अर्जुन को भीष्म के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत देख युधिष्ठिर की सेना लौट आई। तब भीष्म ने सिंहनाद करते हुए धनंजय के रथ पर बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी। कुछ ही क्षणों में बाणों की उस भारी वर्षा के कारण सारथि और घोड़ों सहित उनका यह रथ ऐसा अदृश्य हो गया कि उसका कुछ पता ही नहीं चलता था। श्रीकृष्ण ने घोड़ों को हाँकने की कला में अपनी अद्भुत शक्ति दिखाई। वे भाँति-भाँति के पैंतरे दिखाते हुए भीष्म के बाणों को व्यर्थ करते जा रहे थे। उस समय श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही भीष्म के बाणों से क्षत-विक्षत हो दो साँडों के समान सुशोभित हो रहे थे।

श्रीकृष्ण ने देखा कि अर्जुन मन लगाकर युद्ध नहीं कर रहा है। वह भीष्म के प्रति कोमलता

दिखा रहा है, जबकि भीष्म सेना के मध्य भाग में खड़े हो निरन्तर बाणों की वर्षा करते हुए पाण्डवों की सेना के चुने हुए उत्तम वीरों को मार रहे हैं और युधिष्ठिर की सेना में प्रलयकाल का दृश्य उपस्थित कर रहे हैं। श्रीकृष्ण से यह सहन नहीं हुआ। वे अर्जुन के घोड़ों को छोड़कर हाथों में चाबुक उठाए सिंहनाद करते हुए भीष्म की ओर दौड़े और उस मार-काट में भीष्म के वध के लिए उद्यत हुए। यह देख चारों ओर कोलाहल मचने लगा कि 'भीष्म मारे गये, भीष्म मारे गये।' श्रीकृष्ण को पास आता देख भीष्म तनिक भी भयभीत न होकर अपने विशाल धनुष को खींचने लगे। अर्जुन श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं में पकड़कर उन्हें काबू कर लिया। पर अर्जुन से पकड़े जाने पर भी श्रीकृष्ण आगे बढ़ते गये। तब अर्जुन उनके चरणों को पकड़कर उन्हें रोकने में सफल हो गये। उस समय श्रीकृष्ण के नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे और वे फुफकारते हुए सर्प के समान लम्बी-लम्बी साँस खींच रहे थे। तब अर्जुन आर्तभाव से प्रेमपूर्वक बोले– ''महाबाहो! लौटिए, अपनी प्रतिज्ञा को झूठी मत कीजिए। आपने पहले जो यह कहा था कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' अपने उस वचन की रक्षा कीजिए, अन्यथा लोग आपको मिथ्यावादी कहेंगे। यह सारा भार मुझ पर है। मैं अपने अस्त्र-शस्त्र, सत्य और सुकृत सबकी शपथ खाकर कहता हूँ कि पितामह का वध मैं करूँगा, देखिये, मैं उन्हें आज ही मार गिराऊँगा।'' अर्जुन का यह वचन सुनकर कृष्ण ऊपर से कुछ न कहकर, पुनः क्रोधपूर्वक रथ पर जा बैठे और भीष्म पूर्ववत् बाणों की वर्षा करने लगे।

उस रात्रि को हुई पाण्डवों की गुप्त सभा में श्रीकृष्ण ने युद्ध में निराश युधिष्ठिर को आश्वासन दिया कि ''कल युद्ध में इन्द्र के समान मेरा पराक्रम देखना। यदि अर्जुन भीष्म को मारना नहीं चाहते तो मैं भीष्म को रथ से गिराऊँगा।''

ब्राह्मण गुरु

शस्त्रास्त्र की शिक्षा धनुर्वेद का विषय है और धनुर्वेद एक वेद है जिसके बिना वेदाध्ययन पूर्ण नहीं होता और अध्यापन ब्राह्मण का कर्म है। ऋग्, यजुः तथा अथर्व वेदों में अनेकत्र इस शिक्षा का उल्लेख हुआ है। स्वयं ऋग्वेद के छठे मण्डल के 75वें सूक्त के प्रायः सभी मंत्र युद्धदैवत हैं। इन मंत्रों में धनु, ज्या, आर्त्नी, दूषुधि, सारथि, रश्मयः, अश्वा, रथं, रथगोया, ब्राह्मणादयः, इषवः, प्रतोदः, हस्तध्न, संग्रामाशिषः, युद्धभूमिः, ब्रह्मणस्पतिः, अदिति, कवच आदि आदि। इनके जाने बिना, इनके अनुष्ठान बिना न ऋग्वेद का अध्ययन पूर्ण हो सकता है, न वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक सिद्ध हो सकता है।

धनुर्वेद के प्रसिद्ध शिक्षक प्रायः ब्राह्मण ही थे, जैसे देवगुरु बृहस्पति, दैत्यगुरु भृगुगोत्री शुक्राचार्य, परशुराम, महर्षि वशिष्ठ, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि-आदि। द्रोणाचार्य को सभी क्षत्रिय सर्वश्रेष्ठ योद्धा मानते थे। भीष्म पितामह के गुरु परशुराम (जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने 21 बार पृथिवी को क्षत्रियविहीन कर दिया था) भी ब्राह्मण ही थे। द्रोण ने दुर्योधन से कहा था— जिस धर्मराज के सहायक ब्राह्मण हैं, उसे तू नहीं जीत सकता। महाभारत में लिखा है कि सभी क्षत्रिय शिक्षा द्वारा ब्राह्मणों के ही पैदा किये हुए हैं।

गुरु गोविन्दसिंह ने लिखा है— ''छत्री सभें कृत विप्रन के इनहूँ पै कृपा के कटाक्ष निहारो'' (सूर्य प्रकाश)। प्रसिद्ध यात्री मैगेस्थनीज़ ने लिखा है— ब्राह्मण लोग राजाओं को शिक्षा दिया करते थे और उन्हें राज्य शासन का मार्ग दिखाते थे। वे बड़े विद्वान्, कर्मनिष्ठ और आत्मत्यागी होते थे। आज भी हमारे देश में जल, थल तथा वायु सेना में बड़े-बड़े पदों पर ब्राह्मण प्रतिष्ठित हैं।

अन्धों के अन्धे

पाण्डवों के प्रासाद को मय नामक वास्तुकलाविद् ने रहस्यपूर्ण शैली में बनाया था। एक दिन उसे भीम और अर्जुन के साथ देखते हुए दुर्योधन स्फटिक मणियों से बने एक स्थान पर उसे जल से आप्लावित समझकर धोती को घुटनों से ऊपर की ओर समेटने लगे। एक दूसरे स्थान पर चलते-चलते पानी में गिर पड़े, जबकि वह स्थान बिलकुल सूखा लगता था। अन्यत्र वे एक द्वार को हाथ से धकियाकर खोलने लगे, जबकि वहाँ द्वार था ही नहीं। परिणामत: दुर्योधन वहाँ औंधे मुँह गिर पड़ा। इस पर भीमसेन और आसपास खड़े कुछ लोग हँस पड़े। कहा जाता है कि इस पर द्रौपदी हँस पड़ी और हँसते-हँसते उसने कह दिया— 'अन्धस्य अन्धो वै पुत्र:' अर्थात् अन्धों के अन्धे ही होते हैं। और महाभारत युद्ध का बहुत बड़ा कारण द्रौपदी का यह वाक्य था। परन्तु महाभारत में इसका लेश भी नहीं है। इतना अवश्य है कि पाण्डवों का ऐसा ऐश्वर्य देखकर चकित, लज्जित और ईर्ष्याग्नि से दग्ध होकर दुर्योधन अन्दर-ही-अन्दर जलता-भुनता चला गया।

पाण्डु-पुत्रों के बढ़े हुए यश को सुनकर धृतराष्ट्र के हृदय में भी दाह पैदा हो गया और वह सोचने लगा कि मेरे पुत्रों का यश कैसे बढ़े। जब उसे कोई उपाय न सूझा तो उसने कूटनीति के पण्डित कणिक मंत्री को बुलाकर अपना दु:ख कहा। इसके उत्तर में कणिक ने जो कुछ कहा वह कणिक नीति के नाम से प्रसिद्ध है। उसका सारांश हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। कणिक ने बताया—

शत्रु के छिद्र सदा ढूँढ़ता रहे, अपने छिद्रों को व्यक्त न होने दे। वैरी का नाश कभी अधूरा न करे, किन्तु जड़-मूल से उसका नाश करे। अन्यथा वही शत्रु इस प्रकार कष्ट देता है जिस प्रकार देह से अधूरा निकाला हुआ काँटा। यदि अन्धा या बहरा बनने से हमारा काम चलता हो तो अन्धा या बहरा बन जाना चाहिए। यदि विश्वास देने से काम बनता हो तो शिकारी की तरह विश्वास में लाकर वध कर देना चाहिए। शत्रु पर दया कभी न करे, भले ही वह दया का पात्र हो। भीरु को भय से, बलवान को हाथ जोड़कर, लोभी को धन देकर, सम या न्यून को बल से नष्ट करे। शत्रु के साथ खड़ा पुत्र हो, मित्र हो, भाई, पिता का गुरु हो, शत्रु समान ही उसका नाश कर देना चाहिए। चाहे शत्रु पर प्रहार करना, शत्रु से मीठा ही बोलना चाहिए। अपने हाथ से शत्रु का सिर काटकर भी ऊपर से दया दिखानी चाहिए तथा रोने तक लग जाना चाहिए। वाणी से सदा मीठा रहे और हृदय

से छुरे की तरह काटने वाला।

इस प्रकार कुटिल सुनाकर कणिक बोले--आपके भतीजे इस समय सुदृढ़ होते जा रहे हैं। आप उपरोक्त नीति उपायों से अपनी रक्षा करें।

इसी से प्रेरणा पाकर धृतराष्ट्र बाहर से पाण्डवों के प्रति ममत्व दिखाते रहे, किन्तु कार्यरूप में वे दुर्योधन का ही सहयोग करते रहे। जुए को बुरा बताकर भी 'लड़कों का खेल हो जाने दो, और हम और आप (बड़े) भी तो वहीं होंगे, कोई अनर्थ नहीं होने पायेगा' ऐसा कहकर जुए की व्यवस्था कर दी। परिणाम में पाण्डव हारे और दुर्योधन जीता।

दिव्य दृष्टि

जैसे भीष्म, द्रोण आदि अर्थ के दास थे (अर्थस्य पुरुषो दासः) वैसे ही मोहग्रस्त धृतराष्ट्र पुत्र के दास थे। वे युद्ध को न रोक सके। धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण आदि सभी युद्ध के दुष्परिणाम को जानते थे। युद्ध अवश्यंभावी था। धृतराष्ट्र हस्तिनापुर में रहते थे। वे नेत्रहीन थे। एक दिन महर्षि वेदव्यास उनके पास पहुँचे और एकान्त में बोले– ''तुम्हारे पुत्रों और अन्य राजाओं का मृत्युकाल आ पहुँचा है। काल के अधीन होकर वे एक-दूसरे से भिड़कर मरने-मारने को तैयार खड़े हैं। यदि संग्राम-भूमि में उनकी अवस्था देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करूँ। फिर तुम यहाँ बैठे-बैठे ही वहाँ होने वाले युद्ध का सारा हाल आँखों से देखो।'' इस पर धृतराष्ट्र ने अनुनय किया– ''महर्षिप्रवर! मुझे अपने कुटुम्बी जनों का वध देखना अच्छा नहीं लगेगा। परन्तु आपके प्रभाव से इस युद्ध का सारा वृत्तान्त सुन सकूँ, ऐसी कृपा कीजिए।'' वर देने में समर्थ उन महर्षि ने संजय को वर देते हुए कहा– ''यह संजय आपको इस युद्ध का सारा समाचार सुनाया करेगा। दिव्य दृष्टि से संपन्न होकर संजय सर्वज्ञ हो जायेगा और युद्ध की सब बातें आपको बताया करेगा। संपूर्ण संग्राम-भूमि में प्रत्यक्ष या परोक्ष ऐसी कोई बात नहीं होगी जो इसे ज्ञात न हो।''

महाभारत काल में वैज्ञानिक उन्नति अपनी चरम सीमा पर थी। हो सकता है, उस समय वर्तमान में प्रचलित टेलीविजन सेट जैसा कोई यन्त्र उपलब्ध रहा हो, परन्तु सर्वसाधारण की उस तक पहुँच न होने के कारण उसे दिव्य नेत्र का नाम दिया गया हो। उसमें देख-देखकर संजय धृतराष्ट्र को रनिंग कमेण्ट्री की तरह सब कुछ बताता जाता हो।

परन्तु भगवद्गीता का पहला श्लोक है जिसके अनुसार धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा था–

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥

यहाँ 'अकुर्वत' और आगे भी यत्र-तत्र 'अब्रवीत्', उवाच, प्रभवत्, व्यदारयत्, उपाविशत् और अन्त में भी अश्रौषम् तथा श्रुतवान् जैसी भूतकालिक क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। इससे हमारी पूर्वोक्त उस धारणा की पुष्टि होती है कि यह सब युद्ध की समाप्ति पर हस्तिनापुर लौटने पर संजय द्वारा कुरुक्षेत्र में घटी घटनाओं की धृतराष्ट्र को प्रस्तुत रिपोर्ट है। इसलिए यह समूचा स्थल अन्वेष्य एवं विवेच्य है। अथवा 'इति-ह-आस' होने से कालान्तर में व्यास द्वारा कल्पित एवं रचित है।

सूच्यग्रं नैव दास्यामि

समझौता-वार्ता के अन्त में दुर्योधन ने कह दिया—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति।।

(दुर्योधन का यही कथन 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव' इस रूप में प्रसिद्ध है।)

यह कहकर दुर्योधन सभा से उठकर चल दिया। यह सभी का घोर अपमान था। इस पर श्रीकृष्ण ने भीष्म और द्रोण आदि से कहा कि आप लोग इस मूर्ख दुर्योधन को राजा के पद पर बिठाकर इसका बलपूर्वक नियन्त्रण नहीं कर पा रहे हैं। अब सबका हित इसी में है कि आप लोग दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदि को बन्दी बनाकर पाण्डवों को सौंप दें।

तत्पश्चात् धृतराष्ट्र के आदेश से विदुर माता गान्धारी को बुला लाए। गान्धारी बोलीं— ''महाराज! वर्तमान स्थिति के लिए आप ही निन्दनीय हैं, क्योंकि पुत्र में मोह के कारण, उसके पापपूर्ण विचारों को जानते हुए भी सदा उसी की बुद्धि का अनुसरण करते हैं।'' अपने कुमार्गगामी पुत्र को पुनः सभा में आया देख उसकी निन्दा करती हुई शान्ति-स्थापन के लिए इस प्रकार बोलीं— ''दुर्योधन! तुम्हारे पिता, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और विदुर आदि जो कुछ तुमसे कहते हैं उसे मान लो। तुम शान्त हो जाओगे तो तुम्हारे द्वारा तुम्हारे पिताजी की, मेरी तथा द्रोण आदि सुहृदों की भी पूजा सम्पन्न हो जायगी। भूमण्डल का आधा राज्य मन्त्रियों सहित तुम्हारे जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त है। तुम जो कुन्ती-पुत्रों का अधिकार हड़प लेना चाहते हो, ऐसा करने की शक्ति सूतपुत्र कर्ण और दुःशासन में भी नहीं है। इस युद्ध में सारी प्रजा का विनाश अवश्यंभावी है। मूढ़, जो तुम यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य अपनी पूरी शक्ति लगाकर मेरी ओर से लड़ेंगे, यह इस समय कदापि संभव नहीं है, क्योंकि इन आत्मज्ञानी पुरुषों के हृदय में दोनों के लिए एक-सा ही प्रेम है। इस राज्य का इन्होंने जो अन्न खाया है, इसलिए ये तुम्हारी ओर से लड़कर अपने प्राण तक दे देंगे, परन्तु युधिष्ठिर की ओर टेढ़ी आँख से कभी नहीं देखेंगे।''

अन्ततः श्रीकृष्ण ने कुन्ती के घर जाकर कहा— ''बुआ जी! मैंने तथा महर्षियों ने भी नाना प्रकार के युक्तियुक्त वचन सभा में कह दिये, परन्तु दुर्योधन ने उन्हें नहीं माना। जान पड़ता है, समूचा क्षत्रिय समाज अब शीघ्र ही नष्ट होने वाला है।''

दल-बदल की परम्परा

श्रीकृष्ण कर्ण के पास गये और बोले— ''कर्ण! मैंने सुना है कि भीष्म से द्वेष होने के कारण (भीष्म और कर्ण दोनों ने परशुराम से शिक्षा पाई थी) युद्ध नहीं करोगे। ऐसी दशा में जब तक भीष्म मारे नहीं जाते, तब तक तुम हमारा पक्ष ग्रहण कर लो। जब मारे जायें तब, यदि तुम चाहो तो, युद्ध में पुन: दुर्योधन की सहायता के लिए आ जाना।''

कर्ण बोला— ''आपको मालूम होना चाहिए कि मैं दुर्योधन का परम हितैषी हूँ। उसके लिए मैं अपने प्राण न्यौछावर किए बैठा हूँ। अत: मैं उसका अप्रिय कभी नहीं करूँगा।'' कर्ण की यह बात सुनकर कृष्ण लौट आये और युधिष्ठिर आदि पाण्डवों से आ मिले।

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने सेनाओं के बीच खड़े होकर पुकारा— ''जो कोई वीर सहायता के लिए हमारे पक्ष में आना स्वीकार करे, उसे मैं भी स्वीकार करूँगा।'' उस समय आपके (धृतराष्ट्र के) पुत्र युयुत्सु ने पाण्डवों की ओर देखकर प्रसन्नचित्त हो धर्मराज युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा— ''निष्पाप नरेश, (मानो, जुआ खेलना कोई पाप नहीं था) यदि आप मुझे स्वीकार करें तो मैं अपने भाइयों से युद्ध करूँगा।'' इस पर युधिष्ठिर बोले— ''युयुत्सो! आओ, आओ। हम सब मिलकर तुम्हारे भाइयों से युद्ध करेंगे। महाबाहो! मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ। तुम मेरे लिए युद्ध करो। राजा धृतराष्ट्र की वंश-परम्परा तुम पर ही अवलम्बित दिखाई देती है। महातेजस्वी राजकुमार! हम तुम्हें अपनाते हैं, तुम भी हमें स्वीकार करो। अत्यन्त क्रोधी, दुर्बुद्धि दुर्योधन अब इस संसार में जीवित नहीं रहेगा।''

राजन्! तदनन्तर युधिष्ठिर की बात को सच मान, युयुत्सु अपने सभी पुत्रों को त्यागकर पाण्डवों की सेना में जा मिला।

युधिष्ठिर ने सामूहिक रूप से दल-बदल करना चाहा था, पर उसे इसमें सफलता नहीं मिली। इससे पूर्व युधिष्ठिर ने भीष्म आदि को अपने पक्ष में लाने का प्रयास किया था, परन्तु इसमें भी उसे सफलता नहीं मिली। शल्य के रूप में कुछ हाथ लगा कहा जा सकता है। पर 'वदतां श्रेष्ठतम: कृष्ण' के हाथ कुछ नहीं लगा। इस प्रकार श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर दल-बदल के आदि प्रवर्तक और युयुत्सु सबसे पहले दल-बदलू ठहरते हैं। श्रीकृष्ण ने कर्ण को 'आया राम गया राम' बनाना चाहा था, परन्तु वे सफल न हो सके।

अज्ञातवास के तेरह वर्षों का विवाद

पाण्डवों के तेरह वर्षों के वनवास की अवधि के विवाद के उपस्थित होने पर उसका समाधान भीष्म जी ने इस प्रकार किया था–

''चान्द्र वर्ष तीन सौ चौवन दिनों का होता है और सौर वर्ष तीन सौ पैंसठ दिन पन्द्रह घड़ी एवं कुछ पलों का होता है। इस हिसाब से तेरह सौर वर्षों में चान्द्र वर्ष के लगभग पाँच महीने अधिक हो जाते हैं। इन वर्षों में यदि छह बार अधिमास पड़ जाये तो जिस तिथि को पाण्डवों का वनवास हुआ था, तेरहवें वर्ष की उसी तिथि तक तेरह वर्षों में पाँच महीने और बारह दिन अधिक हो सकते हैं। पाण्डवों ने सूर्य की संक्रान्ति के अनुसार वर्ष की गणना की थी। अत: उन्होंने अधिमास आदि के कारण बढ़े हुए महीनों और दिनों की संख्या को अलग नहीं माना। इसीलिए उनकी गणना में तेरह ही वर्ष हुए। भीष्म जी ने चान्द्रमास की गणना का आश्रय लेकर बढ़े हुए महीनों और दिनों को भी गणना में ले लिया। अत: उनके हिसाब से उस दिन तक तेरह वर्ष पूर्ण होकर पाँच मास बारह दिन अधिक हुए। कालभेद सौर और चान्द्र वर्षों की गणना के भेद से ही हुआ है। वास्तव में सूर्य की क्रान्ति के हिसाब से उस समय तक पाण्डवों के तेरह वर्ष छह दिन हो चुके थे। चान्द्र वर्ष की गणना के अनुसार वही समय तेरह वर्ष पाँच मास बारह दिन हो गया। इस प्रकार इन तेरह वर्षों के पूर्ण होने के पश्चात् भी पाण्डवों के पाँच महीने बारह दिन और अधिक बीत चुके हैं। ऐसा मेरा विचार है।''

इसके बाद भीष्म बोले– ''सभी पाण्डव महात्मा हैं। जिनके नेता राजा युधिष्ठिर हैं, वे धर्म के विषय में अपराध कैसे कर सकते हैं? कुन्ती के पुत्र लोभी नहीं हैं। उन्होंने तपस्या आदि कठिन कर्म किए हैं। वे अधर्म या अनुचित उपाय से राज्य लेने के इच्छुक नहीं हैं। कुन्ती के पुत्र मौत को गले लगा सकते हैं, किन्तु किसी प्रकार अधर्म का आश्रय नहीं ले सकते। समय आने पर पाण्डव अपने योग्य भाग को छोड़ेंगे भी नहीं। पाण्डवों का पराक्रम ऐसा ही है। अर्जुन अकेला ही समूची पृथिवी को दग्ध कर सकता है। इसलिए, तुम पाण्डवों से सन्धि कर लो।''

द्रोण-वध

द्रोण को मारना कठिन समझ कृष्ण ने पाण्डवों से परामर्श किया– शस्त्र धारण किए द्रोण को नहीं मारा जा सकता। यदि उन्हें मारना है तो कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि वे अस्त्र त्याग दें। इसके लिए झूठ का सहारा लेना होगा। अर्जुन और युधिष्ठिर को यह बात अच्छी नहीं लगी, पर भीम, धृष्टद्युम्न आदि ने इसे खूब पसन्द किया। इस योजना के अधीन भीम ने इन्द्रवर्मा के हाथी को मार दिया। इस हाथी का नाम अश्वत्थामा था। इस हाथी को मारकर भीम ने द्रोण के पास जाकर जोर से चिल्लाकर कहा– ''अश्वत्थामा हत:'' अश्वत्थामा मर गया। भीम का वचन सुनकर द्रोण व्याकुल हो गये और उनका शरीर पुत्र-मरण के दु:ख से छिन्न-भिन्न-सा हो गया। फिर भी उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा और बलपूर्वक पाण्डव सेना का संहार करते रहे। परन्तु जब उन्होंने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया तो ऋषियों ने कहा– ''तुमने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग न जानने वालों पर किया है, यह घोर पाप है। एक के लिए अनेकों का वध करना अधर्म है। और जिसके लिए तुम यह सब कर रहे हो, वह तुम्हारा पुत्र अश्वत्थामा तो मरा पड़ा है।'' श्रीकृष्ण जानते थे कि आचार्य द्रोण के मन में यह दृढ़ विश्वास है कि कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर तीनों लोकों के राज्य के लिए भी झूठ नहीं बोलेंगे, क्योंकि बचपन से ही पाण्डुपुत्र की सचाई में आचार्य का पूर्ण विश्वास था। इसलिए अश्वत्थामा की मृत्यु के समाचार की पुष्टि के लिए वे युधिष्ठिर के पास अवश्य जायेंगे।

उधर उस समय द्रोण इस पृथिवी को पाण्डव-रहित कर डालने के लिए उद्यत थे। इसलिए श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को समझाया– ''राजन्! यदि क्रोध में भरे हुए द्रोणाचार्य आधा दिन भी युद्ध करते रहे, तो मैं सच कहता हूँ, तुम्हारी सेना का सर्वनाश हो जायेगा। अत: तुम द्रोण से हम लोगों को बचाओ। इस अवसर पर असत्य भाषण का महत्त्व सत्य से भी बढ़कर है। किसी की प्राणरक्षा के लिए यदि कदाचित् असत्य बोलना पड़े, तो उस झूठ बोलने वाले को झूठ बोलने का पाप नहीं लगता।''

तब भीमसेन धर्मराज से बोले– ''आप श्रीकृष्ण की बात मान लीजिए और द्रोणाचार्य से कह दीजिए कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' '' भीम की यह बात सुनकर, श्रीकृष्ण के आदेश से प्रेरित हो भावीवश युधिष्ठिर यह झूठी बात कहने को तैयार हो गये। अत: उन्होंने 'अश्वत्थामा मारा गया' यह बात तो उच्च स्वर से कही, परन्तु 'हाथी का वध हुआ है'

यह बात धीरे से कही। 'अश्वत्थामा हत: नरो वा कुञ्जरो वा' इस प्रकार लोक में प्रचलित जुड़े हुए ये पद महाभारत में कहीं नहीं मिलते। तब अस्त्र फेंककर, समाधि अवस्था में स्थित, द्रोण का सिर धृष्टद्युम्न ने सहज ही काट लिया। उस समय द्रोणाचार्य की अवस्था चार सौ वर्ष थी।

धनुष-बाण

धनुष-बाणों का वर्णन पुराने ग्रन्थों में बहुत मिलता है। महाभारत में भी अनेक प्रसंगों में विविध प्रकार के धनुषों का उल्लेख हुआ है। धनुष एक विशेष प्रकार की लकड़ी से बनता था। पीछे की ओर उस पर सुवर्ण आदि का काम भी कराया जाता था। धनुष प्राय: बारह हाथ लम्बे होते थे। उन दिनों वे पुरुष के सिर से जरा ऊँचे होते थे। उनमें अनेकविध बाण चलते थे, जैसे विषबुझे, सादे, अर्धचन्द्र, छुरे जैसे, फूल समान। फूल जैसे गुरु द्रोण, भीष्म आदि के पाद-वन्दन के लिए चलाये जाते थे। कुछ मृदुमुख जो जबान बन्द कर देते थे, पर घाव नहीं करते थे। एकलव्य ने भौंकते कुत्ते के मुख में ऐसे ही बाण मारे थे। भीष्म और द्रोण को जल पिलाने के लिए अर्जुन ने जमीन फोड़ने वाले बाणों का प्रयोग किया था। बाण की लम्बाई तीन गज तक होती थी। मुखी प्राय: लोहे की या मिश्रित धातुओं की बनाई जाती थी। पुंख सुवर्ण की बनी होती थीं। उन पर योद्धाओं के नाम होते थे। चलने पर बाण प्रकाश भी करते थे और शब्द भी। भीष्म का वध करने के लिए शिखण्डी ने अथवा शिखण्डी के पीछे से अर्जुन ने जिन बाणों का प्रयोग किया था वे असह्य पीड़ादायक थे। अर्जुन बिना विश्राम किये पाँच सौ बाण चला सकता था। ये बाण एक मील तक मार करते थे। लोहे के तवों में भी छेद कर देते थे। कारतूसी गाड़ियों की तरह बाणों की भरी गाड़ियाँ योद्धा के पीछे चलती थीं। आठ बैलों से खिंचने वाली आठ गाड़ियाँ अश्वत्थामा ने तीन घण्टे में खाली कर दी थीं। मिस्र और यूनान में भी रथयुद्ध धनुष-बाणों से लड़े जाते थे। बड़े धनुष पर चिल्ला चढ़ाकर खींचना भारी बल या अभ्यास का काम था। अर्जुन बाएँ हाथ से भी बाण चला सकता था, इसी कारण वह 'सव्यसाची' कहलाता था। सिकन्दर के काल में और भारत में पृथ्वीराज चौहान के प्राणान्त तक आर्यों की यह कला प्रसिद्ध थी।

जिधर बाण का फल हो उससे विपरीत रुख वाले दो काँटों से युक्त बाण को 'कर्णी' कहते हैं। शरीर में धँस जाने पर यदि उसे निकाला जाय तो वह आँतों को भी अपने साथ खींच लेता है इसलिए वह निन्द्य है। 'मालीक' नामक बाण अत्यन्त छोटा होता है। वह शरीर में पूरे का पूरा डूब जाता है, अत: उसे निकालना कठिन होता है। 'वस्तिक' बाण डण्डे और फल के स्थान में अत्यन्त पतला होता है। शरीर से निकाले जाने पर वह बीच से टूट जाता है। फल भीतर रह जाता है, केवल डण्डा निकल पाता है।

□□